शोभा यात्रा

तथा

पुनरागमनायच्

मालती जोशी

सरस्वती विहार

शोभा यात्रा

तथा

पुनरागमनायच्

(दो लघु उपन्यास)

प्रथम संस्करण : १९८५

प्रकाशक :

सरस्वती विहार

जी० टी० रोड, शाहदरा,

दिल्ली—११००३२

मूल्य : तीस रुपये

SHOBHA YATRA

TATHA

PUNRAGAMANAYACH

(Two Short Novels)

MALTI JOSHI

First Edition : 1985

Pirce : 30.00

नन्दू को,
अपना सोच
और अपनी कलम,
जिसे विरासत में
दे रही हूं

दो लघु उपन्यास

क्रम :

शोभा यात्रा : ६
पुनरागमनायच् : ६५

□

शोभा यात्रा

मां जी किसी आंधी की तरह कमरे में घुस आयी थी। हड़बड़ाहट में मैं उठकर ठीक से खड़ी भी न हो पायी थी कि उन्होंने फायरिंग शुरू कर दी, "मुन्ना कहां है ? कब से गया है ? अब तक लौटा क्यों नहीं ? क्या रोज इतनी रात गये लौटता है ?"

और फिर सबसे अंत में—"तुम यहां बैठे-बैठे क्या कर रही हो ? क्या इसीलिए तुम्हें ब्याह कर लाये थे ? पति आधी रात तक शहर की सड़कें नापता घूम रहा है और तुम मजे से लेटी उपन्यास पढ़ रही हो ?"

जाहिर था, इनमें से किसी भी बात का उत्तर मेरे पास नहीं था। इसलिए चुपचाप सिर झुकाकर सारी बमबारी झेलती रही।

दस-पंद्रह मिनट तक इसी तरह गर्जन-तर्जन करने के बाद वे तो वापस हो गयीं। परन्तु मेरी चेतना को लौटने में कुछ समय लगा। और लौटती चेतना के साथ जो पहला भाव जगा वह रोष का था। मन हुआ, दौड़कर जाऊं और उनका रास्ता रोककर पूछूं—"ये आज ही आपको अचानक अपने लाड़ले की याद कैसे हो आयी ? वे तो रोज ही इतनी-इतनी देर तक बाहर रहते हैं। जब आप ही उनका पता-ठिकाना नहीं जानतीं तो मेरी तो औकात ही क्या है ?"

और यह सब कह चुकने के बाद उन्हें एक बार ठीक से जता दूं कि उनका इस तरह बेधड़क कमरे में चला आना मुझे जरा भी अच्छा नहीं लगा है।

यह सिर्फ मेरे रोष का उबाल ही था जो मुझमें इतना जोश भरे दे रहा था। दूसरे ही क्षण वह ठंडा हो गया। अपना सारा आक्रोश मन-ही-मन पी गयी मैं, क्योंकि जानती थी—मां जी के सामने सिर उठाकर खड़े रहना भी मेरे लिए कठिन है। फिर कुछ कहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस दबंग महिला के प्रति एक अजीब-सी दहशत भर गयी है मन में।

नौकरो-चाकरों या परिवारजनों के सामने तो वे स्नेह की प्रतिमूर्ति बनी रहती हैं पर अकेले में जब भी सामना हुआ है, डांट-फटकार या ताने-उलाहनो के सिवाय कुछ नही मिला।

न सही मा से, लेकिन बेटे से तो आज जंग छेडनी ही है। कोई मोम की गुडिया समझ लिया है मुझे कि जब चाहा प्यार कर लिया, जब चाहा दुतकार दिया।

रात डेढ़ बजे के करीब मोटर साइकिल की परिचित आवाज अहाते में गूंजी। अपने तरकश के सारे तीर भाजकर मैं हमले के लिए तैयार ही बैठी थी कि मा ने बेटे को बीच ही में लपक लिया, "कहा थे अब तक?"

ये शायद इस आक्रमण के लिए तैयार नही थे। इसलिए हड़बड़ाहट मे सच बोल गये, "बाध पर गया था।"

"इतनी रात बांध पर क्या कर रहे थे?"

"डिनर था।"

"किसने दिया था?"

"बृजकिशोर ने।"

"झूठ मत बोलो। वह आज सुबह ही चाचा जी के साथ गया था।"

"उससे क्या फर्क पड़ता है! डिनर उसकी तरफ से था।"

"तुम्हारे साथ और कौन था वहां?"

"उसकी बीवी।"

"शर्म नही आती यह कहते हुए? वह आदमी तो शर्म-हया सब बेच-कर खा गया है। बहाल होने के लिए कुछ भी करने को तैयार है। पर तुममे तो कुछ अकल होनी चाहिए कि नही! घर में नयी-नवेली बहू बैठी हुई है और तुम ···"

"आपको गुस्सा किस बात का आ रहा है?" मा जी की बात काटते हुए इन्होने शात स्वर मे कहा, "आपको दुख किस बात का हो रहा है? मेरे बाध पर जाने का या अपने पंद्रह हजार खोने का? उसे बहाल हो जाने दीजिए, आपकी फीस आपको मिल जायेगी।"

आश्चर्य! इतनी कडवी बात का मा जी ने कोई उत्तर नही दिया। कुछ ही क्षणो मे उनकी भारी-भरकम पदचाप क्रमशः गलियारे से दूर होती

चली गयी। दरवाजे से कान लगाये खड़ी थी मैं। पीछे हटने को ही थी कि ये दरवाजा जोर से ठेलकर भीतर आ गये। मुझे एकदम सामने पाकर कसैली आवाज मे बोले, "आपको भी पूछना है कुछ ?"

"नही !" (वैसे अब पूछने को था ही क्या ?)

"लेकिन मुझे पूछना है !" इन्होने जलती आंखों से घूरते हुए कहा।

"पूछिए।"

"अम्मां से शिकायत किसने की थी ?"

उनकी आंखो मे ही नही, आवाज मे भी अंगारे थे। लेकिन उनकी आंच मुझे दहला नही सकी, क्योंकि वे तो सिर्फ अंगारे थे, मेरे अतस् में तो समूचा ज्वालामुखी धधक उठा था।

हे ईश्वर ! यह मुझे कहा लाकर डाल दिया ? किस घर के मा-बेटे इस स्तर का वार्तालाप करते होगे ? दुनिया का कौन-सा पति इतना बेशर्म होगा कि पत्नी से ही आकर लड़े कि "अम्मां से शिकायत किसने की ?"

"भाभी ! आपके चाचा जी आये है।" सुनीत ने आकर बताया तो हर्ष और विस्मय से मैं उसे देखती रह गयी।

"नीचे चलिए न !" उसने कहा, तब जाकर मुझे होश आया। चाचा जी मुझसे मिलने मेरे कमरे तक थोड़े ही आयेंगे। उनसे मिलने नीचे बड़े हाल में ही जाना होगा। कई जोड़ी आखो के सामने उनसे मिलना होगा—हजार पहरों के बीच बातें करनी होंगी। मिलने का आधा उत्साह तो वही शेष हो गया। दो जीने उतरकर सुनीत के पीछे-पीछे जब बड़े हाल में प्रवेश किया तो बचा-खुचा आनंद भी जाता रहा।

सामने सोफे पर बल्लू चाचा (हमारे पड़ोसी) बैठे हुए थे। मुझे देखते ही वे उठ खड़े हुए और स्नेहसिक्त स्वर मे बोले, "कैसी हो बिटिया ?"

उनके उस स्नेह-सम्बोधन से ऐसा दुलार छलक पड़ रहा था कि मेरे आंसू निकल आये। बचपन मे कई बार उनके कंधे पर चढ़कर कच्चे आम तोड़े हैं, उनके गले में झूलकर कई फरमाइशें की हैं। मन हुआ, फिर से वही

नन्ही-सी वंदना बन जाऊं और ठुनककर कहूं, 'चाचा जी, हमें अपने साथ ले चलिए। अब हमारा यहां मन नहीं लगता।' दूसरे ही क्षण याद आ गया कि इस किले से बाहर पैर देना इतना सरल नहीं है। बिना किसी तीज-त्योहार के, बिना किसी बुलावे के अम्मां जी मुझे अड़ोसियों-पड़ोसियों के साथ कभी नहीं भेजेंगी।

बल्लू चाचा अब इत्मीनान से बैठकर हाल की सजावट का निरीक्षण कर रहे थे। मैं भी उनकी प्रशंसा-भरी दृष्टि का अनुसरण कर रही थी। इतनी फुरसत से मैं भी पहली बार ही वैभव के उस भोंडे प्रदर्शन को देख रही थी। इससे पहले जब भी यहां आयी हूं, प्रदर्शन की वस्तु बनकर ही आयी हूं, कई जोड़ी आखों से विघ घंटों बैठी हूं पर कभी आंख उठाकर देखने का साहस नहीं हुआ।

सुनीत इस बीच चुपचाप उठकर चली गयी थी। शायद समझी हो कि उसके सामने मैं ठीक से बात नहीं कर पाऊंगी; घर में वही एक समझदार जीव है, और संवेदनशील भी।

इस तरह चुपचाप बैठना सचमुच बड़ा खराब लग रहा था। आखिर मैंने ही पूछ लिया, "कब आना हुआ चाचा जी ?"

"यहीं पासवाले गांव में एक बरात में आया था। अपने रविप्रताप सिंह के लड़के की शादी थी। यहां तक आया था तो सोचा बिटिया से भी मिलता चलूं।"

"घर पर तो सब ठीक हैं न ?"

"एकदम मजे में। योगेश रायपुर से बदलकर आ गये। राजेश का भी कालेज में एडहाक एप्वाइंटमेंट हो गया है।"

"अच्छा ! मुझे किसी ने खबर ही नहीं की। चलो, अच्छा हुआ। बड़े भैया उतनी दूर रायपुर में थे तो मां-बाबू जी को बड़ी चिन्ता रहा करती थी।"

"अरे, अब सब अच्छा ही होने को है, देखती जाओ। मुहल्ले में अब दोनों वक्त पानी आने लगा है। गली के मोड़ पर बिजली का खंभा लग गया है। गली तो ऐसी चकाचक रहती है कि बस···खुद नगरपालिका वाले आकर देख जाते हैं। जानते हैं न मिनिस्टर साहब के समधी है। किसी

दिन मंत्री महोदय की निगाह पड़ गयी तो सब-के-सब घर लिये जायेंगे। इसीलिए चौकन्ने रहते हैं। खुद कलेक्टर ने दो-तीन बार फोन करके पूछा कि कोई तकलीफ तो नहीं है? भाभी को छींक भी आ जाये तो सिविल सर्जन दौड़ा चला आता है···तुम्हारे बाबू जी के दफ्तर के बाहर मुन्नालाल धोबी ने जबर्दस्ती ठेला डाल लिया था न प्रेस का, पुलिस की एक ही डांट में सीधा हो गया। ओसारा खाली करके चलता बना।"

चाचा जी सुनाते चले जा रहे थे। और एक-एक बात मेरे कानों पर हथौड़े की तरह बज रही थी।

"बिटिया!" चाचा जी के स्वर की याचना ने मुझे चौंका दिया, "अपनी अम्मां जी के पास जरा हमारी अर्जी भी पहुंचा दो।"

"काहे की?"

"वही लालपुरवाली जमीन की। पांच साल से केस अटका पड़ा है। दो जज बदल गये तब से।"

"आप···कल-वल आते तो ठीक रहता चाचा जी। चाचा जी शायद सबेरे तक लौट आयें।"

"न बिटिया, इतने बड़े आदमी के सामने तो हमसे मुंह ही नहीं खोला जाएगा। तुम तो अम्मां जी से निवेदन कर देना। सब जानते हैं कि असली मंत्री कौन है। और फिर···" वे एकाएक चुप हो गये। मैंने मुड़कर देखा, सुनीत लौट आयी थी और उसके पीछे चाय की ट्रे लिये जगदीश था।

चाय का सरंजाम देखकर चाचा जी एकदम उठ खड़े हुए, "नाहक परेशान होती रहीं आप बिट्टोरानी! पर मुझे माफ करना होगा। भला बिटिया के घर चाय पी सकता हूं कभी!—न बिटिया, इस पाप में मत ढकेलो मुझे। मैं तो राजी-खुशी पूछने चला आया था। बहन जी के दर्शन नहीं हो पाये। उनके चरणों में हमारा प्रणाम निवेदन कर देना। चलूंगा मैं अब!" और हम दोनों के हाथ में ग्यारह-ग्यारह रुपये थमाकर ~~बल्लू~~ चाचा चले गये।

बल्लू चाचा की छोटी-सी मुलाकात मुझे एकदम पत्थर बना गयी।

१४ : शोभा यात्रा तथा पुनरागमनायच्

पिछले चार दिन और चार रातें मैंने बड़े ऊहापोह में बितायी थी। बार-बार घर लौट जाने की योजनाएं बना रही थी पर एक भी गले से नही उतर सकी थी। वल्लू चाचा ने तो सारे सोच-विचार पर ही पूर्ण विराम लगा दिया था।

बड़े भैया पाच साल से ट्रांसफर के लिए परेशान थे। पलक झपकते उनका काम हो गया। छोटे भैया एम०एस-सी० के रिजल्ट के बाद एक दिन खाली नही बैठे। बैठे-बिठाये नौकरी मिल गयी। गली में बिजली लग गयी है। रोज सफाई होने लगी है। मिनिस्टर के समधी होने का इतना फल तुरत मिलता है! लगता है, संसार के सारे व्रतों से यही व्रत श्रेष्ठ है। तभी न पूरा परिवार इस रिश्ते के लिए इतना उत्सुक था।

मुझे तो सगाई के बाद पता चला कि श्रीमान् जी बी० ए० भी नही हैं। इतना रोयी थी मैं उस दिन! अंग्रेजी साहित्य की विद्यार्थिनी मैं एक अनपढ के पल्ले बाध दी जाऊंगी—सोचा भी न था। हैरत तो यह थी कि बिना किसी जांच-पड़ताल के इन लोगो ने बात चलायी ही कैसे? लेकिन अर्चना ने ही बतलाया कि जान-बूझकर मक्खी निगली जा रही है। सुनकर आपे से बाहर हो गयी थी मैं। मां को जाने कितना उलटा-सीधा सुना डाला था।

मां लेकिन जरा भी नाराज नही हुईं, उलटे प्रेम से समझाने लगी, "बेटे, पढाई में क्या रखा है! आजकल बी०ए०, एम०ए० मारे-मारे फिरते है। कोई बाबूगीरी के लिए भी नही पूछता। यह तो तेरी किस्मत है कि इतनी ऊंची जगह तेरा रिश्ता लग गया। हम तो अपना सब कुछ बेच भी देते तो ऐसा घर ढूढ नही पाते। लाखो की जायदाद है, कोठी है, कार है, नौकर हैं, चाकर हैं, मिनिस्ट्री की शान है, सो अलग।"

"पर, मिनिस्टर तो उनके चाचा है मा?"

"तो क्या हुआ! सब कुछ इन्ही लोगों का तो है। उनके कोई बाल-बच्चा थोडे ही है। बीवी भी, कहते हैं, पागल थी, सो छोड रखी है।"

मन को कहीं से भी मां के ये तर्क बांध नहीं पाये थे। फिर भी मैंने परिस्थिति से समझौता किया। एक हिंदुस्तानी लडकी और कर भी क्या सकती है!

शादी बहुत धूम-धाम से संपन्न हुई। गाजे-बाजे के साथ आयी बरात में नेता थे, मत्री थे, अफसर थे, लखपती थे। इसभव्य बरात का स्वागत-सत्कार हम लोगों के बस का नही था। पर शहर का पूरा सरकारी अमला सहायता के लिए दौड़ पडा था। मेरा विवाह एक पारिवारिक आयोजन न रहकर सरकारी समारोह बन गया था।

दूल्हे के रूप-रंग के लिए सखियां मुझे बधाई दे रही थी और मैं खुश होने का प्रयास कर रही थी।

लेकिन दोस्तों की जमात देखकर शिव जी की बरात याद आ गयी। उनके भोडे मजाक, भद्दे हाव-भाव और निर्लज्ज हंसी देख-सुनकर मन खट्टा हो गया। जो व्यक्ति दिन-रात इन लोगो के साथ उठता-बैठता है, उसका अपना मानसिक स्तर कैसा होगा इसकी कल्पना की जा सकती थी। न सही विद्या, पर मनुष्य में संस्कार तो हों। और सस्कारशून्य व्यक्ति के साथ कोई भावुक मन कैसे जुडा रह सकता है !

मेरा सोचा हुआ जरा भी गलत नही था, इसका पता पहली भेंट मे ही चला गया। पत्नी-संबंधी अपनी मान्यताओं को और पत्नी की सीमाओं को उन्होने पहले दिन ही स्पष्ट कर दिया। वह एक कठोर सत्य था, फिर भी मुझे उसके कथ्य से इतनी शिकायत नही है। पर जिस भाषा मे वह कहा गया वह संभ्रांत परिवारों की भाषा में नही थी। विवाह के प्रति मन मे कोई उत्साह नही रह गया था, फिर भी मेरे संस्कारी मन ने भाग्य के निर्णय को सिर-माथे लिया था। बडे यत्न से मन में एक मंदिर बनाया था परंतु प्राणप्रतिष्ठा होने से पहले ही प्रतिमा खंडित हो गयी।

कई बार सोचती हूं—कोई दस मिनट बात भी कर ले तो इस आदमी की औकात समझ मे आ जाती है। फिर बडे भैया तो कई बार आकर मिल गये थे। बाबू जी भी एक बार आये थे। उस समय मत्री जी के यहा सबंध करने की उतावली में वे लोग क्या अपना विवेक [illegible] छोड़ [illegible] उन्हे भान न रहा कि अपने स्वार्थ के लिए वे [illegible] को एक [illegible] गला घोंट रहे हैं ?

□

छोटी दीदी सुबह से परेशान थी। दो-चार बार ऊपर आकर अपने भैया के लिए पूछ गयी थी। उनकी व्यग्रता देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा था क्योंकि भाई-बहन में जैसा प्यार था, मैं जानती थी।

फिर सुनीत ने बतलाया कि दरअसल दीदी भैया के लिए नहीं, उनके जीजा जी के लिए परेशान हैं। दोनों सुबह से ही निकल गये हैं। यह सुनकर तो और भी विस्मय हुआ। साले-बहनोई के स्नेह-संबंध सर्वविदित थे। दोनों भरसक एक-दूसरे के सामने नहीं पड़ते थे। जब भी सामना होता, झड़प होकर ही रहती। मुझे जीजा जी पर तरस भी आता और गुस्सा भी। क्यों यह व्यक्ति इतनी लांछना और अपमान सहकर ससुराल में पड़ा हुआ है? सुना था, वे एल-एल० बी० कर रहे हैं। मैंने कभी उन्हें कालेज जाते नहीं देखा। दिन-रात उनके कमरे में ताश की बाजी जमी रहती, यार-दोस्तों का हुजूम लगा रहता और दीदी दौड़-दौड़कर सबके लिए चाय-नाश्ता बनाती रहती। भाई-बहन दोनों के मन में वैमनस्य की जो गांठ थी, उसके मूल में जीजा जी ही थे। इसीलिए मुझे आश्चर्य हो रहा था। मैंने पूछा, "सुनीत, आज यह अघट कैसे घट गया?"

"क्या?"

"तुम्हारे भैया और जीजा जी साथ-साथ कैसे हैं?"

"भैया, जीजा जी का हिसाब चुकाने गये हैं।"

"मतलब?"

मेरे प्रश्न के उत्तर में सुनीत ने जो बताया वह सचमुच अद्भुत था। हुआ यूं कि जीजा जी कल अपने कुछ दोस्तों के साथ एक होटल में बैठे हुए थे। खा-पीकर जैसे ही उठने को हुए, बैरे ने बिल लाकर सामने रख दिया। बस, फिर क्या था, जीजा जी ने आव देखा न ताव, कम कर उसे एक थप्पड़ जड़ दिया। पल-भर में सारा होटल उनके आसपास सिमट गया। कहा-सुनी होते-होते हाथापाई तक की नौबत आ गयी। जीजा जी तो जैसे-तैसे बच निकले पर उनके दो साथियों को मरहम-पट्टी करवाने अस्पताल जाना पड़ा। आज दोनों वीर उसी अपमान का बदला चुकाने गये हुए हैं।

"लेकिन सुनीत, एक बात समझ में नही आयी। झगड़े की जरूरत ही क्या थी ? वेटर ने बिल ही तो दिया था, कोई अदालती नोटिस तो नही था ?"

"क्या बात करती हो भाभी ? जानती नही, हम इस इलाके के एक-छत्र सम्राट् है, हमसे पैसे मागने की कोई जुर्रत नही कर सकता। जो करेगा, मुह की खायेगा।"

सुनीत ने यह बात एकदम मर्दानी आवाज मे ऐसे आवेश के साथ कही कि उसका अभिनय देखकर हसी से दोहरी हो गयी मै। हसी का वह दौर थमते ही उसी लहजे में मैंने पूछा, "फिर महाप्रतापी जीजा जी की यह दुर्दशा क्योकर हुई श्रीमान् ?"

"उनसे एक चूक हो गयी भद्रे !"

"कौन-सी श्रीमान् ?"

"चूक यह हुई कि जीजा जी गलत जगह पहुंच गए। वह दरबारी का रेस्तरां था। अव्वल तो जीजा जी को वहा जाना ही नही था। अगर गये भी थे तो खा-पीकर चले आना था। ताव दिखाने की जरूरत नही थी।"

इस बार सुनीत कुछ गभीर थी। इसलिए मैंने भी गंभीर होकर पूछा, "यह दरबारी कौन है ?"

"पेट्रोल डीलर है। शहर मे उसके दो होटल चलते है। एक रेडियो की दूकान भी है। भैया से उसकी पुरानी रंजिश चली आ रही है। इस-लिए वे कभी उसके ठिकानो के पास भी नही फटकते। दूसरे पेट्रोल पप बंद हों तो घर में बैठे रहेंगे पर उसके पप पर कभी नही जाते।"

"जीजा जी यह सारा इतिहास जानते तो होंगे ?"

"जानते क्यो नही ? यही तो रोना है।"

सुनीत से बातें करने के बाद मैं भी सोच मे डूब गयी। मन में अजीब-अजीब आशंकाएं उठने लगी थी। उनकी मंगलकामना करते हुए मैं सारी शाम बारजे पर ही बैठी रही—अपने इष्टदेव का जाप करते हुए।

अकसर दीदी पर आश्चर्य हो आता है और ईर्ष्या भी। अपने नितांत अकर्मण्य पति पर कितनी श्रद्धा रखती हैं वे। दिन-भर आगे-पीछे दौड़ती रहेंगी। रसोई के लिए मिसरानी काकी हैं, गोविंदी है—फिर भी वे दिन-

रात वहा खटकर जीजा जी के लिए कुछ-न-कुछ बनाती रहेंगी, दौड़-दौड़कर कमरे मे पहुचाया करेंगी।

हफ्ते में तीन-तीन व्रत रखती हैं वे। एक उनकी परीक्षा में सफलता के लिए, एक उनकी मगल की पीड़ा के लिए—एक उन्ही की साढ़े साती को शात करने के लिए। सोमवार, मंगलवार, शनिवार—हफ्ते में तीन दिन दीदी अपने पति के लिए निराहार रहती हैं।

लगता है, पतिभक्ति का यह संस्कार हम लोगों को घुट्टी में ही पिला दिया जाता है। नही तो इनकी सुरक्षा के लिए मैं इतनी आकुल-व्याकुल हो उठूंगी, इसका मुझे भी अनुमान नही था। दिन ढले जब उन्हे अपनी मोटर साइकिल पर बैठकर सही-सलामत लौटते देखा तो मैंने स्वस्ति की सास ली।

कमरे मे आकर ये बैठे ही थे कि सुनीत आ गई, "भैया! दीदी पूछ रही हैं कि चाय अभी लेंगे या ठहरकर?" वे कुछ क्षण उसे घूरते रहे, फिर बोले, "वे जो चाय के शौकीन नीचे बैठे है, उन्हें ही जी भरकर पिला दो। हमारी फिक्र करने की जरूरत नही है।"

सुनीत अपना-सा मुह लेकर मुड़ी ही थी कि इन्होंने फिर आवाज दी, "गुड्डी! जरा दीदी से कहना कि अपने बबुआ को खूटे से बांधकर रखें। लड़ने का दम तो है नही, सबसे उलझते फिरते है।"

और सुनीत के जाते ही ये मुझ पर बरस पड़े, "क्या मेरे लिए चाय भी बनाकर नही ला सकती तुम?"

उनके उस कर्कश स्वर से पल-भर पहले मन मे उपजी सारी कोमल मधुर भावनाएं बिला गईं। भारी मन से नीचे उतरकर आई तो देखा, दीदी ने नाश्ते का शाही सरंजाम किया हुआ है। उनका उल्लास देखते बन रहा था। किसी होटल के कर्मचारियो से हाथापाई करके लौटे हुए पति का वे ऐसा स्वागत कर रही थी, जैसे वे हल्दीघाटी का युद्ध जीतकर लौटे हो।

रात के सन्नाटे में फोन की घंटी बड़ी कर्कश लगी। दिन-भर के कार्य-

कलापों में थककर ये गहरी नींद सो रहे थे। दिन-भर के मानसिक उद्वेलन के कारण मेरी नींद कोसों भाग गई थी। इसीलिए बाहरवाले छोटे कमरे में बैठकर कुछ पढ़ने का, कुछ बुनने का यत्न कर रही थी। इन्हें रोशनी से कष्ट न हो इसलिए मैंने बीचवाला दरवाजा भी ठेल दिया था।

देश-काल से बेखबर अपने विचारों में ऐसी खोयी हुई थी मैं कि फोन की घंटी से बुरी तरह चौंक उठी। एक बार मन हुआ इन्हें जगा दूं—इतनी रात को फोन आया है तो इन्हीं के लिए होगा। पर हिम्मत नहीं पड़ी। एक तो शाम से ही मूड उखड़ा हुआ था, उस पर सोते समय एक पैग चढ़ाकर सोये थे। ऐसे में उनकी नींद में व्यवधान डालना मुसीबत बुलाना ही था।

"हैलो!" मैंने रिसीवर उठाते हुए हौले से कहा।

"कौन, भाभी जी बोल रही हैं। नामोस्कारम् भाभी जी।" मैं चुप।

"अरे भाभी जी, हमसे न बनिए। हम आपको पहचान गए हैं। इतनी महीन आवाज उस घर में किसी की नहीं है। सबके सब फटे हैं।"

"काम क्या है, बताइए!" मैंने यथाशक्ति कठोर स्वर में कहा।

"आपके छैला बाबू क्या कर रहे हैं?"

"सो रहे हैं।"

"जग जायें, तो हमारा एक संदेशा उन तक पहुंचा दीजिएगा। कहिएगा कि दो-चार गुंडे हमने भी पाल रखे हैं। एक ठो पिस्तौल भी हमारे पास है।"

तड़पकर मैंने रिसीवर नीचे रख दिया। पर उसके बाद भी वह धमकी-भरा स्वर कानों में गूंजता रहा। एक बार फिर इन्हें जगाने का मन हुआ पर जब्त कर गई। क्या अभी ही उठकर चल दें। दिन-भर इतना तनाव झेला था मैंने। अब हिम्मत नहीं थी।

अगले दो-चार दिनों में ही सब कुछ सामान्य हो गया। फोन की बात मेरे दिमाग से एकदम उतर गई थी कि एक दोपहर को फिर से वह घनघनाया। दिन में तो इनका घर पर रहने का सवाल ही नहीं उठता था, मुझे ही उठना पड़ा। "हैलो!" मैंने कहा।

"नोमोस्कारम् भाभी जी। आराम में खलल डाल रहा हूं, माफ

करेंगी। पर मेरी अर्जी के बारे मे पूछना था। साहब बहादुर तक पहुंची कि नहीं अभी तक ?"

मैंने तिलमिलाकर फोन रख दिया। पर उसके बावजूद उसकी हसी देर तक मेरे कानो से टकराती रही।

फिर तो जैसे यह क्रम ही बन गया। हर दो-चार दिन बाद वह रिंग करता। ये अकसर घर पर नही होते। या क्या पता, जान-बूझकर ऐसा समय चुना जाता हो! उसकी आवाज सुनते ही मैं फोन रख देती। पर सलामी के तौर पर कहा गया विशिष्ट अंदाजवाला 'नोमोस्कारम्' और उसका अनुसरण करती हुई फार्मूला फिल्मों की-सी खलनायकी हसी—इतना तो सुनना ही पडता।

अजीब परेशानी मे घिर गई थी मैं। फोन की घटी सुनते ही मन कांप-कांप उठता था। एक-दो बार तो टाल भी गई थी मैं पर दुर्भाग्य से वह इन्ही का फोन निकला। कमरे से अपनी अनुपस्थिति की सफाई देते-देते मुझे पसीना छूट गया।

आखिर एक दिन जब मेरी सहनशक्ति ने जवाब दे दिया तो मैंने इनसे सब कह डाला। गभीर होकर ये कुछ देर तक सोचते रहे, फिर बोले, "उसका भी इलाज हो जायेगा। डोंट वरी।"

उनके इस आश्वासन से मेरा डर घटा नही बल्कि और भी बढ गया। जिस दिन भी ये देर रात तक बाहर रहते, मन में नाना शकाएं उठने लगतीं। लगता, इससे तो वह फोनवाला चक्कर ही ठीक था। कम-से-कम निरापद तो था। उस निर्जीव उपकरण की शिकायत करके मैंने क्या पाया! बेचारे की रवानगी नीचेवाले कमरे में हो गयी। मेरा डर वैसा ही कायम रहा—बल्कि और बढ ही गया।

ये रोज की तरह रात के बारह बजाकर लौटे थे।

रोज की बात और थी पर आज तो इनके पास कारण भी था। सुनीत की सहेली की शादी थी। सुनीत ही नही, सारा घर वहा आमन्त्रित था। मेरे लिए तो विशेष मनुहार की थी विद्या ने। सुनीत ने भी बहुत कहा था

पर मां जी नही मानी। बोली, "किसी और दिन ले जाना। भीड़-भाड़ मे नही भेजूगी। सौ तरह के लोग आते है।"

पता नहीं किस युग में जी रहे थे ये लोग! चेकअप करवाने के लिए भी मेरा अस्पताल जाना इनकी शान के खिलाफ था। कल ही डाक्टर घर पर आकर देख गई थी। बोली, "बस, खुश रहा करो। और सुबह-शाम थोड़ा घूम लिया करो। तुम्हें तो कही बाहर जाने की जरूरत भी नही है। घर में ही इतना बड़ा कंपाउड है।"

अब उन्हें क्या बताती कि यहा तो कमरे से निकलने से पहले भी दस बार सोचना पड़ता है! जीजा जी चौबीसो घटे घर पर रहते हैं इसलिए बीचवाली मंजिल मेरे लिए एक तरह से वर्जित ही है। नीचे चाचा जी के कारण हरदम एक मेला-सा लगा रहता है। वहां जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। बस, कभी मां जी के पास या सुनीत के पास बैठ लिया। सो भी बहुत कम। मां जी के पास तो बिना बुलावे के कभी गई नही। सुनीत अपनी पढ़ाई में, अपनी सहेलियों मे मगन रहती है। फुरसत मे रहती है तो ऊपर खुद ही चली आती है। अपने लिए तो बस, यह छोटी-सी छत है और उससे लगे ये जुडवां कमरे। इन्ही में रहकर खुश हो लो या उदास, क्या फर्क पड़ता है?

ये लौटे तो सीधे भीतर चले गए। मेरे मन मे कई प्रश्न फुदक रहे थे, शादी कैसी हुई? दूल्हा कैसा है? बरात मे कितने लोग है? डिनर कैसा रहा? दहेज मे क्या-क्या दे रहे हैं? पर इनका मूड देखकर चुप लगा गई। नाइट सूट निकालकर पलग पर रख दिया और प्रतीक्षा करती रही। तभी दरवाजे पर दस्तक हुई।

कौन होगा इस समय? सुनीत तो नही! शायद भाई के साथ लौट आई हो? कोई जरूरी बात कहनी हो। शायद दीदी हों। रिम्मी को उस दिन जैसा फिट न आ गया हो कहीं। या मां जी—उनके लिए तो समय की कोई पाबंदी ही नही है।

मैंने बाथरूम के बंद दरवाजे की ओर एक बार देखा और बाहर आकर दरवाजा खोल दिया।

गलियारे में एक दीर्घकाय सुदर्शन युवक खड़ा था।

"नोमोस्कारम् भाभी जी !"

मुझे लगा, मैं जहां पर खडी हूं, वह जमीन एकदम भुरभुरी हो गई है।

"श्रीमान जी कहां हैं ?"

मेरे मुह से आवाज नही निकली।

"मेरी गैरहाजिरी में मेरे घर पर जौहर दिखाकर आए हैं। उनसे कहिए, हिम्मत हो तो सामने आकर बात करें। मैं खुद चलकर उनकी मांद में आया हूं। उनकी तरह दुम दबाकर भागनेवाला नही हूं।"

उसकी आखों मे से ऐसी लपटें निकल रही थीं कि मैं मंत्रकीलित-सी वही खड़ी रह गई—एकटक उसे देखते हुए। लगा कि मेरी पलक झपकते ही यह आदमी झपट्टा मारकर मुझे दबोच लेगा।

तभी बाथरूम का दरवाजा खुलने की आवाज आई। साहस कर मैंने पीछे मुड़कर देखा—ये बीचवाले दरवाजे में आ खड़े हुए थे।

मैं कुछ कहने को ही थी कि इनका हाथ उठा—एक धांय की आवाज हुई···और ··और वह लंबा-चौड़ा व्यक्ति मेरे देखते-देखते धराशायी हो गया।

पल-भर को जैसे सारा संसार-चक्र सहमकर थम गया था। फिर एकदम मेरी संज्ञा लौट आई—होनी अपनी सपूर्ण भयावहता के साथ मेरे सामने खड़ी थी।

"भां जी !" मैं जोर से चीखी और फिर उनके नाम की गुहार लगाती हुई वे सौ-पचास सीढ़िया एक सास मे उतर गई। दरवाजा खुलवाने की जरूरत नहीं पड़ी। शायद उन्होने मेरी आवाज सुन ली थी।

"क्या बात है ?" उन्होने कड़ककर पूछा।

"भा जी, खून ! वहा—ऊपर !" हाफने के कारण मुझसे ठीक से बोला भी नही जा रहा था। पेट पकडकर मैं वही जमीन पर धम्म से बैठ गई। एक मरोड़ थी जो नीचे से उठकर सारे शरीर को व्याप गई थी। उस प्राणांतक पीड़ा को होठों मे ही पी लेने के प्रयास में सारा घर मेरे सामने घूम गया था। एक अंधेरा था जो प्रतिक्षण मुझे लीलने बढ़ा आ रहा था।

उन डूबते क्षणों मे भी मैंने स्पष्ट देखा कि कमरे के अंधेरे से चाचा जी की आकृति उभरी थी। अपनी सुदीर्घ देहयष्टि पर केवल तहमद लपेटे वे मा जी के पीछे आकर खड़े हो गए थे। आसन्न मूर्च्छा की अवस्था मे भी मैंने आधी रात को मां जी के कमरे में उनकी उपस्थिति को लक्ष्य किया और···आश्चर्य में डूब गई।

पता नही कितनी देर बाद मुझे होश आया। जागने पर अपने-आप को नितांत अपरिचित चेहरों से घिरा पाया। केवल एक ही आकृति जानी-पहचानी-सी लग रही थी, वे शायद मां जी थी। "मा जी ! खू··· न !" मैं चीखी पर आवाज गले में फसकर रह गयी।

"क्या कह रही है ?" कोई फुसफुसाया।

"ज्यादा ब्लीडिंग हो गयी है न, घबरा गयी है।"

"नही—वो बात···"

"चुप रहो !" उस नीम-बेहोशी की अवस्था मे भी मैंने उस आवाज की कडक को महसूस किया। अगले ही क्षण उस आवाज में मिश्री घुल गयी थी, "देखो, तुम सीढियों पर से गिर गयी थी न ! तुम्हारे सिर में चोट आयी है। सख्त आराम की जरूरत है। लेटी रहो।"

"नही !" मैंने फिर प्रतिवाद करना चाहा पर आवाज ही नही निकली। एक पीडा का अंधड था जो पूरे शरीर में चक्कर काट रहा था। उसे झेलने के प्रयास मे फिर मेरी संज्ञा धीरे-धीरे लुप्त होती चली गई।

तीन-चार दिन तक मैं इसी अर्धजाग्रत् अवस्था मे लेटी रही। बार-बार कोई आकर कानो में मंत्र-सा फूक जाता, "तुम्हें आराम की जरूरत है। तुम सीढियो से गिर गयी थी। तुम्हे बहुत चोट आयी है।"

मन इस बात की गवाही नही देता था पर प्रतिवाद करने की शक्ति भी नही रही थी। चुपचाप पडी रहती थी मैं। पाचवें दिन उस अपरिचित माहौल मे एक युग-युगातर से परिचित चेहरा नजर आया।

"मां !" अपनी सारी शक्ति लगाकर मैं चीखी और उनसे लिपट गयी। पता नही, कितने दिनो से सचित आसू बाध तोडकर बह निकले। मां-बाबू जी अस्पताल मे ही दो-तीन दिन रहे। वही से मैं बिदा हुई।

गाड़ी जैसे ही चलने को हुई, मां जी एकदम मा के पास आयी और बोली, "देखिए, इसे जबरदस्त शाक लगा है। एक तो गिरने का। दूसरे,

बच्चा भी नही रहा। इसलिए इस प्रसंग को घर में न ही चलायें तो अच्छा। और लोगों को भी मना कर दे।"

यह पहला अवसर था जब किसी ने मेरे अजात शिशु के दुःखद अवसान की चर्चा मेरे सामने इतना खुलकर की थी। वह भी इस हिदायत के साथ कि मेरे सामने यह चर्चा न चलायी जाए।

मा ने घबराकर कनखियों से मेरी ओर देखा, पर मै शात भाव से सुनीत से बात करती रही। मन का आकाश क्षण-भर के लिए अवसाद से घिर भी गया था लेकिन मैंने किसी को इसका सकेत नही दिया।

एक नन्हा खिलौना हाथ में आने से पहले ही गिरकर टूट गया। इस दुर्घटना को मैंने भाग्य का लेख मानकर स्थितप्रज्ञता से स्वीकार कर लिया था। मेरे दुख की जड़ें इससे बहुत गहरी थी पर देखने वाले जो समझ रहे थे, उनके लिए वही सत्य था।

मा की आख बचाकर कई बार दादी मेरे पास आकर बैठ जाती। मेरा सिर अपनी गोद मे रखकर समझाने लगती, "बेटे! दाता जो देता है वे सभी फल अपने थोड़े ही होते हैं। जो अपनी झोली मे बच जाए, बस उन्ही पर अपना हक होता है। मुझे देख कच्चे-पक्के कुल मिलाकर ..."

दादी बेचारी अपना लेखा-जोखा पूरा भी नही कर पाती और मां को भनक पड़ जाती। दौडी-दौड़ी आती और कोई दूसरा प्रसंग छेड़कर दादी की कापती मरियल आवाज को वही दबा देती।

मुझे इतनी हसी आती। दोनो अपनी ममता की मारी है बेचारी। अपने-अपने ढंग से मेरा दुख हलका करना चाहती है। और वे ही क्यो, पूरा घर मेरे इर्द-गिर्द घूम रहा था। भाभिया बिछी जाती थी—एक-एक शब्द झेलती थी। बहनें दिन-भर तीमारदारी में लगी रहती। भाई लोग फल-फूल और दवाइयो से कमरा भर देते। अपने काम से जरा-सी फुरसत पाते ही बाबू जी मेरे पास आ बैठते। दुनिया-जहान की बाते करके मेरा मन बहलाते।

ठीक होने में मुझे पूरे दो महीने लगे। फुरसत में आदमी बहुत गहरे तक देख लेता है। मैंने भी लक्ष्य किया कि बल्लू चाचा गलत नही कहते थे। घर का नक्शा सचमुच बदल गया है। बाबू जी वैसे भी अच्छी हैसियतवाले

व्यक्ति थे। पर मेरी शादी के बाद उनकी प्रतिष्ठा में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई थी।

बिस्तर पर पड़े-पड़े मैंने एक बात और भी महसूस की। सारी माज-सभाल और लाड़-दुलार के बावजूद सबके मन में मुझे लेकर एक बेचैनी-सी व्याप्त है। दो महीने मैं बिस्तर से लगी रही। पर मुझे देखने घर से कोई नहीं आया। सुनीत की ही दो-चार उखड़ी-उखड़ी चिट्ठियां आयी थी। पर जिनके पत्र की प्रतीक्षा थी, वह नहीं आया।

जब तक बीमार रही, तब तक तो चलता रहा। पर ठीक होने के बाद समस्या सचमुच गभीर हो गयी। दो-ढाई महीने मुझे यहां रहते हो गए थे पर घर से अब तक कोई बुलावा नही आया था। बिना बुलावे के लौटने की राह नही बन रही थी। जाने के लिए मैं बहुत उत्सुक नही थी, पर सबकी आखों मे झलकता संशय सोचने के लिए मजबूर कर देता था।

फिर धीरे-धीरे मैंने घर के रूटीन मे अपने-आप को ढालना शुरू कर दिया। सुबह-शाम भाभी के साथ चौके में थोड़ा काम करा दिया, दोपहर में मा के ब्लाउज में बटन टाक दिए, दादी को रामायण सुना दी। शाम को बाबू जी को चाय-नाश्ता करा दिया। रात प्रमोद, विनोद को होम-वर्क करवा दिया या रोली को कहानी सुना दी।

दिन निरानद ही सही, बीत चले थे।

सुबह की चाय अपने पूरे ताम-झाम के साथ चल रही थी। चौबीस घंटों मे यही समय होता था जब घर के सब लोग एक साथ बैठ पाते थे। इसलिए लबी-चौडी डाइनिंग टेबल सुबह को ठसाठस भरी होती थी। बच्चों के लिए अलग से स्टूल आदि का इतजाम करना पड़ता। सबके साथ खा-पीकर सब लोग प्रसन्न मन से अपने-अपने काम पर निकल जाते। बाबू जी का तो कहना था कि सुबह-सवेरे अपने बच्चों के साथ आधा घटा हंस-बोल लेता हूं तो दिन-भर मेरी बैटरी चार्ज्ड रहती है।

बाबूलाल अखबार ले आया और सब-के-सब उस पर झपट पड़े। रोज ही यह धमा-चौकड़ी मचती थी। अंग्रेजी का अखबार तो सीधे बाबू जी के

पास चला जाता था। हिंदीवाले अखबार को लेकर खूब खींच-तान होती। उसके सारे पेज अलग करके बांट लिए जाते। फिर भी कहीं दो-दो सिर एक साथ घुसे हुए रहते। कहीं कोई आगे से पढता और दूसरा पीछे से। पत्रिकाएं आती तो अल्पना और भाभी उन्हें सबसे पहले लपक लेती।

मां अकसर डांट लगाती रहती पर उसमें कोई दम नहीं होता। उनकी शक्ल से साफ जाहिर होता कि उन्हें यह हुड़बौंग बहुत प्यारी लग रही है। उनकी खुशहाल गृहस्थी का बिगुल था वह।

एक हाथ में चाय का कप थामे सब लोग अपने-अपने हिस्से का पेज पढ़ रहे थे कि बड़े भैया एकदम बोले, "बाबू जी! ये पढा आपने? दरबारी लाल हत्याकांड का अभियुक्त रामसजीवन काछी अपने घर में मृत पाया गया। वह अभी कुछ दिन पहले ही जमानत पर छूटा था।"

"क्या हुआ दीदी?" भैया की बात पूरी भी न हो पाई थी कि अर्चना चिल्लायी।

"कुछ नहीं रे, चाय छलक गयी थी। अभी साफ करके आती हू, नहीं तो दाग नहीं छूटेगा," मैंने उठते हुए कहा और चाय से सनी साड़ी की पटलियां हाथ में थामकर बाहर निकल गई।

जाते-जाते मैंने सुना, मां डांट रही थी, "सुबह-सवेरे कोई अच्छी खबर नहीं सुना सकते तुम लोग। वही मरने-मारने की बातें, जब देखो तब मरे अखबारवालों को भी और कुछ नहीं मिलता।"

किसी तरह साड़ी पर पानी डाला मैंने और वहीं पिछले बरामदे की सीढ़ियों पर ही पसरकर बैठ गयी। शरीर की सारी ताकत जैसे किसी ने एकदम सोख ली थी। उठकर कमरे तक जाने का भी हौसला न रहा।

चाय तो दरबारी का नाम सुनते ही छलक गयी थी। बड़े यत्न से विस्मृत किया हुआ वह प्रसंग आंखों के सामने घूम गया था। वह दीर्घ-काय आकृति, वह सुदर्शन चेहरा, खलनायकी हंसी, खास ढंग से कहा गया 'नोमोस्कारम', वह रोबीली आवाज—और फिर कटे वृक्ष की तरह एक-दम ढह जाना। क्षण-भर में यह सब किसी चलचित्र की तरह मेरी आंखों के सामने घूम गया था।

लेकिन उसके बाद क्या कहा था भैया ने! किसका नाम लिया था!

रामसजीवन यानी कक्का। लेकिन उस दिन तो बेचारे घर पर भी नही थे। दीदी लोगो के साथ शादीवाले घर में गए हुए थे। जीजा जी उस दिन कानपुर एक दोस्त की शादी में गए थे। इन्होंने साफ कह दिया था कि वे शादी में तो जायेंगे लेकिन किसी को लाने-ले जाने की जिम्मेदारी नही लेंगे। इसीलिए फिर कक्का को साथ जाना पड़ा। वैसे चाचाजी वही थे उस समय इसलिए गाड़ी भी थी, पर लडकियों के मामले में मा जी किसी पर भरोसा नही करती थी। सिर्फ कक्का ही उनके विश्वस्त थे। बेचारे बीस साल मे ड्योढी पर थे। अकसर अपनी खिड़की से मैं देखती रहती—सफेद झक धोती, सफेद कुर्ता, कलफ लगा साफा, कमर मे लाल कमरबंद, जिसके पीतल के बटन दूर से झिलमिलाते—कधे पर झूलती रहती एक बदूक। नुकीली मूछो के साथ कक्का किसी राजपूत सामंत से कम नही लगते।

"यहा बैठी क्या कर रही है विन्नू ?" मां घबरायी-सी मेरे पास आ कर खडी हो गयी थी।

"कुछ नही मा, साड़ी सुखा रही थी।"

"अरे वाह ! क्या यही एक साडी रह गयी है पहनने को। गीले कपड़े पहनकर बीमार पड़ना है क्या ! चल उठ।"

"सच बताऊ मां ! कक्का की खबर सुनकर मन कैसा तो हो गया है।"

"सो तो होगा ही रे !" मा खुद ही मेरे पास बैठ गई, बोली, "इतने-इतने दिन हो जाते है तो नौकर, नौकर थोडे ही रहते है। घर के आदमी हो जाते है। और उसने तो बेचारे ने घर के बड़े-बुजुर्गो-सा ही काम किया। नहीं तो लड़की बच पाती भला ?"

"क्या हुआ था मां ? ठीक से याद भी नही आ रहा।"

"तुझे याद कहा से होगा ! तू तो अस्पताल मे थी न ! घर के सभी लोग तेरे साथ अस्पताल मे थे। सुनीत अकेली थी घर पर—दीदी के बच्चों के साथ।"

"उस दिन तो वे सब शादी मे गई थी।"

"गई तो थी, पर तेरी तबीयत खराब होते ही मां जी ने फोन करके सबको बुलवा लिया था। कुअर जी तो पहले आ गए थे मोटर साइकिल

पर। लड़कियां बाद में आईं। सब लोग चले गए थे। सुनीता अकेली कमरे मे थी। यह भला आदमी पता नही कहां से टपक पड़ा। उस दिन कुअर जी उसके भाई के साथ मार-पीट कर आए थे, इसलिए बदला लेने आया था। भाई तो मिला नही, बहन हाथ आ गई। उसकी चीख सुनकर राम-सजीवन दौड़कर न आया होता तो अनर्थ हो गया होता···जानती है, तेरी सास ने फौरन हजार रुपये निकालकर उसे दिये थे, बोली, 'पुलिस की नजरों में वह हत्यारा हो सकता है, हमारे लिए देवता है। उसने घर की इज्जत बचाई है।' "

घर की इज्जत तो सचमुच बचा ली थी कक्का ने, पर कैसे—यह बात मा कभी न जान पाएगी। और ऐसा त्यागी वीर पुरुष अपने घर में मृत पाया गया—क्यो? अखबार ने लिखा है, मृत्यु के कारणो का पता नही चल सका। इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि मृत्यु स्वाभाविक नही थी। क्यो?

दिन-भर मेरा मन इसी उधेड़बुन मे खोया रहा।

शाम को बाबू जी का समय होते ही मैं किचन मे चली आयी। मै किसी को भी यह आभास नही देना चाहती थी कि मैं परेशान हूं या अन्य-मनस्क हूं।

"वंदू बेटे! देख तेरे लिए आज क्या लाया हूं।" मुझे देखते ही बाबू जी ने कहा।

"क्या लाए हैं?" मैंने भरसक हुलसते हुए पूछा।

"फीडम ऐट मिडनाइट। बहुत दिनों से कह रही थी न। आज बार रूम में एक के पास देखी तो उठा लाया।"

किताब को हाथ मे लेकर उलट-पुलट करती रही मैं। कब से उत्सुक थी इसके लिए। इस छोटे-से कस्बे के बाररूम से बाबू जी वह दुर्लभ पुस्तक मेरे लिए खोज लाए थे। पर मन में कोई उत्साह ही शेष नही रह गया था। बाबू जी के इस कमरे मे पुस्तकें-ही-पुस्तकें थी। चमकीली जिल्दो-वाली, करीने से लगी हुई, जमीन से लगाकर छत तक किताबें-ही-किताबें।

उनकी मेज पर भी एक साथ पंद्रह-बीस किताबें गिनी जा सकती थीं। मुझे लगा, जैसे बाबू जी ने मुझे बहलाने के लिए किताबों के इस समुद्र से एक उठाकर मुझे पकड़ा दी हो।

उनके लिए चाय डालते हुए मैंने कहा, "हत्या के अभियुक्त की कोई हत्या कर दे तो उसे आप क्या कहेंगे?"

"मैं उसे बदले की कार्रवाई कहूंगा।"

"मैं तो इसे निरा पागलपन कहूंगी। वह बेचारा तो खुद ही कठघरे में खड़ा है, अपनी सजा की प्रतीक्षा कर रहा है। फांसी, उम्रकैद, जो भी हो।"

"कोई जरूरी थोड़े ही है। छूट भी तो सकता है।"

"कैसे?"

"बेटे, अदालत में तो जो साबित हो जाता है, वही जुर्म है। नहीं तो सिर्फ घटना है, चाहे दुर्घटना कह लो।"

"कोई और कारण बतला सकते हैं?"

"किसका?"

"वही, हत्या का?"

"शायद किसी को उसके मुंह खोलने का डर हो। शायद उसका सच बोलना इतना निरापद न हो।"

"बाबू जी!"

"हां बेटे!"

"आपने हम लोगों को हमेशा सच बोलने की शिक्षा दी। ठीक है न!"

"वह तो बचपन की बात थी। आज अगर पूछोगी तो कहूंगा कि सच वही है जो सिद्ध हो सकता है। अगर सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं है तो झूठ को शह देनी पड़ेगी। अगर झूठ बोलने का साहस भी नहीं है तो चुप तो रहा ही जा सकता है।"

"ये आप एक वकील की हैसियत से कह रहे हैं?"

"नहीं – एक बाप की हैसियत से।"

मैंने चौंककर बाबू जी की ओर देखा। वे मेज पर झुके हुए थे और सामने रखे कागज पर बेमतलब लकीरें खींच रहे थे। "बाबू जी?" मैंने

कांपती आवाज में पूछा, "आप कितना जानते हैं बाबू जी ?"

"मैं कुछ नही जानता बेटे, लेकिन समझता बहुत कुछ हू । वदना, पिछले पैंतीस वर्षों से वकालत कर रहा हू—बहुत अच्छी तरह जानता हू कि झूठ को सच कैसे किया जाता है, गवाह कैसे तोड़े जाते हैं, प्रमाण नष्ट कैसे किए जाते हैं, पोस्टमार्टम रिपोर्ट कैसे लिखवाई जाती है, अदालतो से न्याय कैसे खरीदा जाता है । इस नाटक में रुपये का रोल कितना है, राज-नीति का कितना, सब समझता हू । इसीलिए कहता हू चुप रहना ही श्रेय-स्कर है ।"

"लेकिन···मैं इतना बड़ा झूठ कैसे बर्दाश्त कर पाऊगी बाबू जी ?"

"तुम्हे इससे भी बडा झूठ बर्दाश्त करना है बेटे ।"

बाबू जी कुछ देर तक मेरी ओर देखते रहे, फिर धीरे से बोले, "उस बार तुम्हें लेने गया था तो शहर मे इस हत्याकाड की चर्चा गरम थी । मैंने मनोज से कहा कि सुनीत का नाम इस तरह बीच में नही आता तो ठीक रहता । बेकार की बदनामी होगी । तो जानती हो, क्या जवाब मिला ? जवाब मिला कि बदनामी तो होनी ही थी, चाहे बीवी की होती या बहन की ।"

"क्या···?" मैं विस्फारित नेत्रों से बाबू जी को देखती रह गई ।

बाबू जी शांत स्वर मे बोले, "मनोज ने बताया कि तुम्हारे पास रोज दरबारी का फोन आता था । उस रात भी वह तुमसे मिलने तुम्हारे कमरे तक गया था ।"

"ओह नो···" सिर से पांव तक सिहर उठी मैं, सुलग उठी । मन हुआ दोनो हाथों में अपना चेहरा छुपाकर भाग जाऊं यहा से । इस घिनौनी बात को सुनने के बाद उनके सामने एक पल भी बैठना कठिन था ।

"जानता हूं बेटे, कि यह झूठ है," स्नेहसिक्त स्वर मे वे बोले, "इससे बड़ा झूठ दुनिया में कोई हो नही सकता । शायद तुम्हारा मुह बद रखने के लिए ही उन्होंने यह बहाना गढा हो । शायद तुम्हारा सच बोलना उनके लिए निरापद न हो । बहुत दिनों से एक बात पूछना चाहता था बेटे । उस दिन तुम अपने-आप गिरी थी या किसी ने तुम्हें ऊपर से धक्का दे दिया था ?"

बाबू जी द्वारा व्यक्त उस संभावना में उतनी सर्दी में भी मुझे पसीना छूट गया। मैंने उनकी आंखों में सीधे देखते हुए कहा, "मैं अपनी बात साबित नही कर सकती बाबू जी, पर आपको विश्वास करना होगा। उस दिन मै गिरी नही थी—सीढियो से या और कही से भी।"

किसी तरह विश्वास करने को जी नही चाह रहा था। पर किए बिना चारा भी तो नही था। रात फोन पर ही सूचना मिल गई थी, पर मन ने उसे झुठला दिया था। सुबह से रेडियो, अखबार, लाउडस्पीकर्स—सभी उसी दारुण समाचार की पुष्टि कर रहे थे। बाजार बंद हो गये थे। स्कूल में छुट्टी हो गई थी। घर पर मिलने वालो का ताता लगा हुआ था।

अनिच्छा से ही सही, पर अंततः उस कठोर सत्य को स्वीकार करना ही पड़ा—कि चाचा जी अब नहीं रहे। समाचार इतना अप्रत्याशित था कि सबका स्तब्ध रह जाना स्वाभाविक ही था। पल-भर को मैं भी एकदम जड़ हो गयी थी। फिर जो मुझे रुलाई छूटी तो उस आवेग मे मैंने घर-भर को समेट लिया।

रात-भर मां और भाभी मेरे पास बैठी मुझे दिलासा देती रही। भैया लोग उनकी गुणागाथा कहते रहे। उनकी बातों का सूत्र पकडकर चाचा जी की कितनी ही यादें चलचित्र की भाति मन के पर्दे पर घूम गईं।

पहली बार जब उन्हे देखा था—शायद कालेज का वार्षिकोत्सव था। वे मुख्य अतिथि थे। छात्रा-प्रतिनिधि के रूप मे स्वागत मैंने ही किया था। उस समय उन्हे बहुत पास से देखने का अवसर मिला। सफेद चूड़ीदार पाजामा, रेशमी अचकन, सफेद टोपी—रौबदार व्यक्तित्व। गहरे देखती आंखें। लुभावनी हंसी। स्वागत भाषण पढते हुए सचमुच मेरा मन गद्गद हो उठा था।

चार-पांच दिन बाद पता चला, मैंने भी उन्हे कम प्रभावित नही किया था। उन दिनो वे अपने पितृहीन भतीजे के लिए सुयोग्य कन्या की तलाश मे थे। मुझे उन्होने समारोह में देखा, सुना और परख लिया। प्रिंसिपल स्वयं उनका प्रस्ताव लेकर बाबू जी के पास आये थे। मैं तो जैसे खुशी से पागल हो गई थी।

उसके बाद उन्हें तब देखा, जब मेरी ओली डालने घर पर आए थे।

उस समय ठेठ पंडिताऊ वेश-भूषा में थे फिर भी अपने सौम्य और भव्य व्यक्तित्व के कारण सब रिश्तेदारों में अलग लग रहे थे।

मेरे विवाह का आयोजन तो बहुत ही भव्य पैमाने पर हुआ था। उस ताम-झाम को सभालना बाबू जी के बस की बात नही थी। यह तो चाचा जी का सौजन्य था, शालीनता थी जो सब कुछ ठीक से निभ गया। दान-दहेज, खान-पान, मान-सम्मान, रीति-रिवाज—किसी भी बात को लेकर चखचख न उन्होने की, न होने दी। ऐसे समझदार समधी के लिए बाबू जी को सबने बधाई दी थी।

घर पर होते तो उनकी महानता का एक और पहलू नजर आता। जब भी वे अपने शहर में होते, बंगले पर दरबार लगा रहता। पता नही कहा-कहा से, कैसे-कैसे लोग आते। सफेद बुर्राक धोती-कुर्ता पहने चाचा जी आरामकुर्सी पर लेटे रहते और ध्यान से सबका दुख-दर्द सुनते। कभी उन्हे ऊबते, खीजते या चीखते नही देखा। इससे अलग भी उनका एक रूप था। कई बार उड़ते-उड़ते कानो मे भनक पड़ी थी पर मैंने कभी विश्वास नहीं किया था। पर उस रात अपनी आंखो से प्रत्यक्ष देखा। मा जी के कमरे के नीम अंधेरे से उभरती उनकी उस आकृति को शायद मैं कभी भूल नहीं पाऊंगी।

बाबू जी अपने एक मित्र को विदेश यात्रा के लिए विदा करने बंबई गए थे। समाचार सुनते ही दौडे चले आए। मुझे वहा देखते ही मां पर बरस पड़े, "इतनी भी अकल नहीं आई तुम्हे कि लडकों के साथ इसे भेज देतीं? वो तो अच्छा हुआ जो मैं घर चला आया। अगर सीधे वहीं पहुच गया होता तो कितनी फजीहत होती।"

मा चुप करके रह गयी। कैसे बताती कि उन्होने तो दबी जबान से दो-चार बार कहा भी था पर मैं ही अनसुनी कर गई थी।

पर बाबू जी को चैन कहा! मुश्किल से घंटे-दो घंटे विश्राम किया होगा और मेरे कमरे मे आ गए, "बिटिया, तैयारी कर लो। हमे चलना होगा।"

"बाबू जी, क्या सब कुछ जानने के बावजूद आप मुझे वहा जाने के लिए कह सकते हैं ?"

"मैंने इसीलिए अब तक पहल नही की थी बेटे। मैं सोचने के लिए कुछ समय चाहता था। पर ईश्वर ने जरा भी मोहलत नही दी···अब अगर इस प्रसंग पर वहां नही जाओगी तो शायद फिर कभी नहीं जा पाओगी।"

"नही जाऊंगी—क्या फर्क पड़ता है ?"

"पड़ता है बेटे, बहुत फर्क पड़ता है। नहीं जाओगी तो एक तरह से मनोज के आरोपों का समर्थन ही करोगी। दूसरे···"

"कहिए न ! चुप क्यों हो गये आप ? यहा रहूंगी तो सब पर भार बन जाऊंगी, यही न !"

"नहीं वदू, ईश्वर ने इतनी सामर्थ्य तो दी है कि तुम्हारे जीवन-भर के खाने-पहनने का प्रबंध कर सकता हू। लेकिन बेटी, अगर तुम अपने घर नही जाओगी तो अर्चना, अल्पना भी कभी ससुराल का मुह नही देख पायेंगी। जहा भी बात चलेगी, तुम्हारा प्रसंग उठे बिना नही रहेगा।"

"उनकी शादी मे मेरा क्या संबंध है बाबू जी ?"

"है, और बहुत गहरा है। वंदना, बहुत कायर हैं हम और हमारी कौम। उचित-अनुचित किसी तरह का विद्रोह हम नही सह सकते।"

"तो फिर आप अपनी लडकियों को पढाते क्यो हैं ? पढाते हैं तो फिर किसी वज्र मूर्ख के साथ उसे ब्याहते क्यों है ?" मैंने तिलमिलाकर पूछा।

बाबू जी कुछ देर तक मेरा तमतमाया चेहरा देखते रहे। फिर धीरे से बोले, "यह मेरी बहुत बड़ी भूल थी और इसके लिए मैं अपने को कभी माफ नही कर सकूगा···बेटे, हर बाप अपनी बेटी को राजरानी बनी देखना चाहता है। इतने संपन्न घराने से तुम्हारा रिश्ता आया, तो मैं मना नहीं कर सका। रही शिक्षा की बात, तो मैं जानता हूं लक्ष्मी और सरस्वती का कभी मेल नही होता। दो भाइयो के बीच एक ही लड़का था, लाड-दुलार में थोडा भटक जाना स्वाभाविक है। फिर डिग्री ही ज्ञान का माप-दंड थोड़े ही है। जानता था कि लड़का बहुत ज्यादा सुशिक्षित नही है,

पर मुसस्कृत भी नही होगा, यह पता नही था। मैं तो बस, चाचा जी
व्यवहार पर मुग्ध हो गया था। पर उनके संस्कारों का एक शतांश भी घ
मे नही होगा, यह क्या मालूम था !"

"वाबू जी, इन नेताओ का सौजन्य और इनकी शालीनता भी शाय
'इमेज विल्डिंग' का एक भाग-भर होता है, बस।" मैंने कसैले स्वर
कहा।

"होगा वेटे···वह व्यक्ति अब स्वर्गीय है, इसे मत भूलो।"

डेढ़ सौ किलोमीटर का लंबा सफर—जहूर और वडे भैया अदल
बदलकर गाड़ी चला रहे थे। पिछली सीट पर मैं और बाबू जी नि:शब्द
बैठे थे। घर जैसे-जैसे पास आता जा रहा था, मैं एक गहरे अवसाद में
डूबती चली जा रही थी।

मंजिल जब केवल पच्चीस-तीस किलोमीटर रह गई तो बड़े भैया ने
गाडी रोक दी और पीछे मुडकर कहा, "बाबू जी, आप कहें तो आपके
लिए एकाध कप चाय बनवा लू; क्योंकि वहां तो···"

"हा-हा वेटे, जरूर-जरूर !" बाबू जी तपाक से बोले, उन्हे भान हो
आया था कि बाकी लोग बहुत बोर हो रहे हैं।

बड़े भैया जैसे आदेश की प्रतीक्षा मे ही थे। फटाक से दरवाजा बंद
किया और जहूर के साथ सामने वाली दुकान में चले गए।

"वदना !" मैंने चौंककर देखा। बाबू जी ने मुझे आवाज दी थी पर
कहां से ?

"एक बात याद रखनी होगी वेटे," फिर किसी गहरे कुए से आवाज
आई।

"क्या ?" मैंने पूछा।

"उस रात तुम सीढियों से ही गिरी थी और उसके बाद क्या हुआ,
तुम्हें कुछ याद नही है।"

मैं विस्फारित नेत्रों से उन्हे देखती रह गई। पर वे खिड़की के उस पार
जाने क्या देख रहे थे।

□

पता नहीं क्यों, मैंने सोचा था घर एकदम सुनसान होगा। इस समय वहा बाहरवाला कोई न होगा। यही सोचकर बाबू जी ने सुबह चलने का निर्णय लिया था।

पर वहां वैसी ही भीड़-भाड़ थी। क्षण-भर को यही लगा कि वहा, उतने लोगों के बीच चाचा जी ही बैठे हों जैसे, पर वे मा जी थी। बरामदे मे एक तख्त पर वे विराजमान थी और उन्हें घेरकर जाजम पर पता नही कौन-कौन बैठे थे।

मुझे आगे करके बाबू जी ने जैसे ही सीढ़ियों पर पैर रखा, वे वहीं से दहाड़ी, "वाह पडित जी, खूब सगुन लेकर आई थी आपकी बिटिया। घर-भर को अनाथ कर दिया।"

और उसके बाद मां जी बुक्का फाड़कर रो उठी थी। उनके साथ और कितनी ही सिसकियां जुड़ गई थी। रुलाई तो मुझे भी आ गयी थी पर वह बाबू जी के लिए थी। आज इतने सारे लोगों के सामने उन्हे अपमानित किया गया—सिर्फ इसलिए कि वे बेटी के बाप हैं।

कोई धीरे से मुझे सहारा देकर भीतर लिवा गया। वह सुनीत थी। ठेठ अपने कमरे में लिवा ले गई मुझे। कमरे का निपट एकात पाते ही हम दोनों एक-दूसरे से लिपटकर खूब रोयीं। बहुत देर बाद शोक का आवेग कुछ थमा तो उसने उठकर मेरा मुह धुलवाया, पता नही कहा से अदरक की गरमागरम चाय लाकर मुझे पिलायी। फिर मेरे गले में बांहें डालकर बोली, 'भाभी, तुम नही थी तो घर में तनिक भी दिल नही लगता था। जैसे सारी रौनक अपने साथ समेटकर ले गई थी तुम। अब भी देखो न मेह-मानो से घर भरा हुआ है पर फिर भी इतना सूना लग रहा था। तुम आ गई हो तो सचमुच बड़ा अच्छा लग रहा है।"

"सुनीत," मैंने उसकी चिबुक उठाकर कहा, "तुम्हारी इसी एक बात पर मैं जिंदगी-भर तुम्हारा आंगन बुहारती रहूंगी। नही तो आज सच-मुच ऐसा मन हो रहा था कि बाबू जी के साथ उलटे पैरों लौट जाऊं। इतने सारे लोगों के सामने मेरे बाबू जी का आज ऐसा अपमान हुआ है!"

और मेरी फिर से हिचकी बंध गई।

"भाभी," सुनीत ने मुझे सहलाते हुए कहा, "अम्मा कुछ भी कहती रहें पर वे जानती है, चाचा जी अपनी मौत नहीं मरे। वे क्या, सभी जानते है कि किसी की चिंता उन्हें खा गयी। किसी के गले में झूलता फांसी का फंदा उनकी मृत्यु का बहाना बन गया।"

"गुड्डी!" एक कड़कती आवाज ने हम दोनों को बुरी तरह चौंका दिया। मैंने सहमकर सिर उठाया तो लगा जैसे मा जी, उम्र की कई सीढ़ियां एक साथ उतरकर दरवाजे में आकर खड़ी हो।

"बात करते समय जरा होश ठिकाने रखा करो अपने। जानती हो, दस तरह के आदमी है घर में इस समय। यही वक्त रह गया है बातें करने का?"

अंगारों-सी दिप-दिप करती आखों की तरफ मुझसे देखा भी नहीं जा रहा था। डांट-डपटकर वे चली गयी—फिर उसके बाद भी बड़ी देर तक मैं हतबुद्धि-सी उस ओर देखती रही।

"बड़ी दीदी है।" सुनीत ने बताया।

"कब आयी?"

"कल रात को।"

सुनकर थोड़ी शर्म-सी आयी। वे उतनी दूर कुवैत से आकर भी मुझसे पहले पहुंच गयी और मैं सिर्फ डेढ़ सौ किलोमीटर दूर थी, फिर भी आज पहुच रही हूं। थोड़ी हैरत भी हुई। इकलौते भाई की शादी मे भी आना टाल गयी थी दीदी। पर चाचा की मृत्यु पर किस तत्परता से आ पहुंची है।

इस तत्परता का मर्म जानते देर न लगी। आयी थी, उसी दिन से उन्होने मा को, भाई को कुरेदना शुरू कर दिया था। वे बार-बार याद दिला रही थी, "वसीयत वगैरह का कुछ चक्कर हो तो जल्दी निपटा लो। तेरही के बाद फिर मैं एक दिन भी नही रुकूगी। इतनी दूर आयी हू तो दो-चार दिन ससुराल में भी रहना होगा।"

कहते है, सब्र का फल मीठा होता है। पर चाचा जी ने सबकी आशाओं पर तुषारापात कर दिया। पता नहीं लोगो ने क्या-क्या उम्मीदें

लगा रखी थी, पर सबके चेहरे लटक गए।

इलाहाबाद से उनका एटर्नी आया था। बड़े हाल में सबको एकत्र करके वह लंबा-चौड़ा वक्तव्य सुनाया गया। सबसे पहले उल्लेख था शहर में स्थित पुश्तैनी मकान का। इसमें तीन दुकानें और दो किरायेदार थे। यह मकान इनके नाम कर दिया गया था। (वैसे भी होता ही) शहर से दूर बनी यह आलीशान कोठी मां जी के नाम थी—साथ ही दस हजार की रकम भी। दोनों बड़ी लड़कियों को और बहू को (अर्थात मुझे) पांच-पांच हजार मिलते थे। सुनीत के नाम बीस हजार फिक्स डिपाजिट में थे, जिन्हें उसकी शादी के समय ही हाथ लगाया जा सकता था।

चाचा जी नौकरों-चाकरों को नही भूले थे। सभी को कुछ-न-कुछ दे गए थे। बऊ को, रामसजीवन कक्का की पत्नी को तो बैंक से सौ रुपये महीने की पेंशन बांध गए थे। आउट हाउस की उनकी कोठरी भी उसके नाम कर दी गई थी। शेष सारी चल-अचल संपत्ति, जो चाचा जी की स्वअर्जित थी, उनकी पत्नी को दी गई थी। चाची जी की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकार उनके भाई के बेटों को दिया गया था।

एक अजीब-से माहौल में दम साधे सब लोग सुन रहे थे। लेकिन प्रति-क्रिया सबकी भिन्न-भिन्न थी।

अपने भाग्य का निर्णय सुनते ही दीदी एकदम उठ खड़ी हुईं और तमककर बाहर निकल गयी। जीजा जी भी उनके पीछे-पीछे खिसक लिए। छोटी दीदी उसी तरह सिर झुकाकर बैठी रही। मां जी का चेहरा बर्फ की तरह सफेद और सख्त पड़ गया था। इनके चेहरे पर कई रंग आ-जा रहे थे। कई बार तो ऐसा तमतमा उठता कि डर होता, कहीं कुछ कर न बैठें।

अनपढ़ सेवक वर्ग को वह कानूनी भाषा जरा भी पल्ले नही पड़ी थी। पर बाद में जब उन्हें बताया गया तो सब लोग स्वर्गवासी मालिक को दुआ देते हुए गए। बऊ तो एकदम बुक्का फाड़कर रो उठी। उसका करुण विलाप सुना नहीं जा रहा था। पता नहीं वह अपने स्वर्गीय स्वामी की सहृदयता के प्रति कृतज्ञता थी या दिवगत पति के बिछोह की पीडा।

बडी दीदी ने बाद में भी तूफान मचाया, बोली, "इतना रुपया तो मैं हर महीने नौकरों में बांट देती हूं। अच्छी किरकिरी की है मेरी। ससुराल में जाकर क्या मुह दिखाऊंगी ?"

मेरी समझ में नही आता कि जिसके पास इतना सब कुछ है उसे इतनी लालसा क्यों ? चाचा जी ने जो दिया उसे आशीर्वाद समझकर रख लेती। उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाने की क्या तुक थी ?

सुनीत ने तो कहा, "दीदी, मैं स्टाप पेपर पर लिख देती हू कि मैं शादी नही करूंगी। मेरे हिस्से की रकम तुम दोनो आधी-आधी बांट लेना।"

मां जी भी तरह-तरह से समझाती रही पर दीदी को मनाया नही जा सका। वे उसी उखड़े मूड में विदा हुईं। उनके जाते ही मां जी का सारा गुस्सा चाचा जी की ससुराल वालो पर जा पड़ा। बोली, "पता नहीं कौन-सा मन्त्र फूक दिया था ससुरों ने। जिंदगी-भर तो लाला ने उनकी चौखट पर पांव नही दिया और मरते समय सब कुछ उसी भट्ठी मे झोंक दिया।"

ये दात पीसकर बोले, "लिख देने से क्या होता है ? खेत में एक दाना भी उगाकर तो देख ले कोई।"

लेकिन सुनीत खुश थी। बोली, "अच्छा ही हुआ। कम-से-कम मरते समय तो चाचा जी अपने अन्याय का परिमार्जन कर गए। जीवन-भर पत्नी को अपने अधिकारों से वंचित रखा उन्होंने। पीहर मे आश्रितों का-सा जीवन बिताने को मजबूर किया। सारे पापों का प्रायश्चित्त इस मृत्युपत्र ने कर दिया।"

"सुनीत, उनकी ससुराल से कोई नहीं आया ? कम-से कम चाची को तो तेरही पर आना चाहिए था।"

"क्यों आती भला ? जिनके जीते जी यहा नही रह सकी, अब क्या उनका बरा-खीर खाने यहां आती ?"

"वैसे" वो ठीक तो है न ! सुना था, पागल है।"

"भाभी, अगर तुम्हारा पति तुम्हारी आंखों के सामने रासलीला रचाएगा तो तुम भी पागल हो जाओगी।"

"सुनीत ! सच सुनीत, कभी-कभी लगता है···"

"···कि मैं इस घर की लड़की नहीं हूं। यही न ! मुझे भी ऐसा ही लगता है भाभी। बचपन में सब मुझे चिढ़ाया करते थे कि तुझे नदी किनारे से उठाकर लाए हैं। कभी कहते, जामुनवाली से पसेरी-भर आटा देकर खरीदा है। काश ! यही सच होता भाभी। तब इतनी आत्मग्लानि तो न होती। अपने से ही आंखें मिलाते हुए शर्म तो न आती।"

किसी एक व्यक्ति के अभाव में घर का सूना हो जाना कितना अटपटा लगता है ! तिस पर चाचा जी तो अकसर बाहर ही रहते थे। महीने में मुश्किल से दो-चार दिन वे घर पर ठहर पाते थे। कभी-कभी तो वह भी नहीं। फिर भी उनके जाते ही लगा, जैसे घर की छत उड़ गयी है और हम लोग निपट चौड़े में आ गए हैं।

घर में यह बदलाव तो फिर भी बहुत धीरे-धीरे आया था, लोगों के चेहरे लेकिन बहुत जल्द बदलने लगे थे। बरसों जो दुकानदार पैसे की बात नहीं करते थे, अब सामान के साथ बिल नत्थी करके भेजने लगे। जो लोग सामने आंख उठाकर बात नहीं करते थे, वे धड़ल्ले से आकर सोफे पर बैठने लगे। जो सरकारी अधिकारी सुबह-शाम मां जी के दरबार में हाजिरी बजा लाते थे, उनसे मिलने के लिए अब समय मांगना पड़ता था। जिनके यहां से नित्यप्रति भेंट-पूजा आती थी, अब उनके यहां डाली भेजने की नौबत आ गई।

सरकारी गाड़ी का सुख तो मिनिस्ट्री के साथ समाप्त होना ही था, पर वैसे भी उस गाड़ी से घर को कोई सरोकार नहीं था। वह तो चाचा जी के साथ ही आती-जाती थी। लेकिन उन दिनों जिले-भर की गाड़ियों पर अपना हक था। किसी को अस्पताल जाना हो, सिनेमा देखना हो, स्टेशन पहुंचना हो या किसी रम्य स्थान पर पिकनिक मनानी हो—बस फोन करने-भर की देर थी। मजाल नहीं था कि कोई मना कर दे। सरकारी जीप उपलब्ध न हुई तो भाई लोग अपनी कार भेज देते थे।

अब ले-देकर वही एक मोटर साइकिल रह गई थी, उसमें भी कभी अपने पैसों से पेट्रोल नहीं डलवाया था। पेट्रोल के पैसे देना, होटल का बिल चुकाना और सिनेमा के टिकट खरीदना—ये तीनों बातें इनकी आचार-

संहिता में नही आती थी। बदलती परिस्थितियों में अपना पुराना रौब-दाब बनाए रखना इनके लिए कठिन हो गया था। इसलिए ये यथासंभव घर पर ही बने रहते। चले भी जाते तो लौटने तक मां जी व्यग्र बनी रहती। इनके लड़ने-भिड़ने के शौक से परिचित जो थी।

घर में एक नौकर था जगदीश। गरीब ब्राह्मण का लडका था। पिछले चुनाव के समय जब चाचा जी अपने क्षेत्र का दौरा कर रहे थे तो उसके पिता ने अपना यह आठवीं पास लडका चाचा जी के चरणों में डाल दिया था। सोचा था, जिंदगी बन जाएगी। चाचा जी भी उसे आगे पढ़ाने का आश्वासन देकर साथ ले आए थे। आते ही उन्होंने अपनी अमानत मां जी के सुपुर्द कर दी थी, और अपनी व्यस्तताओं में उस बात को भूल गए थे।

तब से यह लड़का घर का अभिन्न अंग बन गया था। पचास-साठ रुपये के वेतन पर वह दिन-भर काम मे जुटा रहता और बचा-खुचा खा-कर सो रहता।

चाचा जी की मृत्यु के दो-एक महीने के बाद वह एकाएक गायब हो गया। उसके बाद एक दिन ये पास के कस्बे मे किसी अधिकारी से मिलने गए थे। वहां देखा, अस्थायी कर्मचारी के रूप मे जगदीश जी बंगले पर ड्यूटी बजा रहे हैं। शायद उसने ढंग से नमस्ते भी नही की थी। घर आ-कर इन्होंने इतनी गालियां निकालीं···

"यह तो होना ही था।" सुनीता मुझसे बोली, "ब्राह्मण का लडका था, सरकारी नौकरी का लालच देकर उसे बरसो घर मे बांध रखा था। क्या-क्या काम नही कराया उससे! गाली के सिवाय कभी बात नहीं की। एक बार नौकरी छोड़कर भाग गया था तो चोरी का इल्जाम लगाकर उसे पकड मंगवाया था। थाने पर खूब कुटम्मस करवाकर फिर खुद ही जमा-नत पर छुडा लाए थे। तब से असहाय गूंगे पशु की तरह ओसारे में पड़ा रहता था बेचारा। बेबस की हाय कभी खाली नही जाती। जगदीश के श्राप जरूर व्यापेंगे इन्हे।"

पता नही किसके श्राप लगे थे, पर उस सार्वभौम सत्ता को सच-मुच ग्रहण लग गया था। सत्ता का, अधिकार का मद धीरे-धीरे उतर रहा था—और वह प्रक्रिया बहुत कष्टदायक थी।

बदली हुई परिस्थितियों की सबसे कड़ी मार मुझ पर ही पड़ी। शादी को साल-भर हो चला था। इतने दिनों तो घर में मेरा अस्तित्व केवल शो केस में रखी गुड़िया जैसा ही था। घर के किसी काम में मेरा दखल नहीं था। रसोई की तरफ तो मैंने झांका भी नहीं था। वहां चौबीसों घंटे छोटी दीदी छायी रहती थीं। अपने लिए एक कप चाय भी बनाकर पीने की मेरी कभी हिम्मत नहीं पड़ी थी।

पर इन दिनों दीदी का मन वहां से उचटने लगा था। रसोईघर से उनके लगाव का मुख्य कारण जीजा जी थे। उन्हीं के लिए वे दिन-रात वहां खटती रहती, नाना प्रकार के व्यंजन बनाया करतीं।

परंतु आय का मूल स्रोत सूखते ही जीजा जी घर के सबसे फालतू जीव हो गये। दो-एक बार साले-बहनोई में अच्छी-खासी झड़प भी हो गई। बहुत दिनों से मन में पल रही नफरत उभरकर एकदम सतह पर आ गयी। दीदी के संवेदनशील मस्तिष्क ने उस संकेत को समझने में गलती नहीं की। एक शुभ दिन, वे बिना किसी चीख-पुकार के, अपने पति और बच्चों को लेकर गांव लौट गयीं।

मुझे दुख तो यह हुआ कि मां जी ने झूठ-मूठ भी उन्हें रोकने या मनाने का प्रयास नहीं किया। बड़ी दीदी के सामने बिछ-बिछ गयी थीं मां जी। पर छोटी दीदी के प्रस्थान के समय इतनी तटस्थ हो गयी थीं कि देखकर आश्चर्य होता था।

सुनीत ने कभी बताया था कि दीदी का ब्याह एक एग्रीमेंट था, अनुबंध था। दीदी का गांव चाचा जी के चुनाव-क्षेत्र का सबसे बड़ा गांव था। जीजा जी का परिवार गांव का सबसे संपन्न परिवार था। पास-पड़ोस के गावों में भी उन लोगों की धाक थी, प्रतिष्ठा थी। उस क्षेत्र में जीतने के लिए इन लोगों का समर्थन बहुत आवश्यक था। चाचा जी के अनुरोध पर उन लोगों ने सहयोग और समर्थन देना तो स्वीकार कर लिया पर बदले

मे अपने मिर्गी के मरीज पुत्र के लिए दीदी को मांग लिया। कुशल रण-नीतिज्ञ थे चाचा जी। दोस्ती पर संबंधों की मुहर लगाने के लिए उन्होंने भी यह रिश्ता मजूर कर लिया। आने वाले हर चुनाव में उनकी जीत सुनिश्चित हो गयी।

दीदी कुछ दिनो तक तो ससुराल में बनी रही पर वहां उन्हें बड़ी उपेक्षा झेलनी पड़ी। पति अस्वस्थ तो थे ही, आलसी और अकर्मण्य भी थे। उनके प्रति सबका जो भी दृष्टिकोण रहा हो, वह बाहर पता नहीं चलता था पर अंत:पुर में बड़ी खुसुर-पुसुर होती थी। संयुक्त परिवारो में हमेशा यही होता है। संबंधों मे दरार हो तब भी ऊपरी सतह वैसी ही चिकनी सपाट बनी रहती है लेकिन भीतर-ही-भीतर खाई बढ़ती रहती है। जिसे यह भुगतना पडता है, वही इस दर्द को जानता है।

उस घुटन को दीदी बहुत दिनों तक झेल नही सकी और पढ़ाई का बहाना बनाकर पति के साथ अपने घर लौट आयी। ससुराल से उनका रिश्ता केवल गमी और खुशी में जाने-भर का रहा। उतने-से रिश्ते के बल पर वे *यहा भी* सिर ऊचा किये रहीं। एक बार उपेक्षा का, अवमानना का कडवा घूट पीने के कारण वे संभल गयी थी, इसलिए मा के घर भी चौकन्नी बनी रहीं। जीजा जी का उन्होंने कभी अपमान नहीं होने दिया। उनकी सेवा का सारा भार स्वयं उठाकर उन्होने कभी किसी को तुनकने या भुनभुनाने का अवसर नही दिया।

दीदी को बहुत जल्दी ही यह अहसास हो गया कि सारे अनुबंध चाचा जी की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गये है। एक बार जान लेने पर उन्होंने एक क्षण का भी विलब नही किया और ससुराल लौट गयीं।

उनके जाते ही घर और भी सूना हो गया। लगा, जैसे घर की सारी रौनक अन्नू और रिम्मी (अनुपम और रिमझिम) के दम से थी। मुझसे तो दोनो बहुत ही हिले हुए थे। सुनीत के बाद घर मे वही दोनो मेरे सबसे ज्यादा अपने थे। दीदी का भी घर मे एक सहारा-सा था। जीजा जी की परिचर्या से जितना समय बचता, वे सब पर स्नेह लुटाया करती थीं, उनके रहते कभी उनके महत्त्व को, ममत्व को जान नही पायी। पर उनके

जाने के बाद लगा कि स्नेह का, आनंद का एक खजाना-सा वे अपने साथ ले गयी हैं।

दीदी गयी और उनके प्रधान कार्यक्षेत्र पर अनचाहे ही मेरा अधिकार हो गया। दीदी की तरह मेरा यह उत्तरदायित्व ऐच्छिक नहीं था—उतना निर्द्वन्द्व भी नहीं। घर की बहू थी मैं। उनके किये को सब लोग सिर-माथे लेते थे, सराहते थे। मेरा किया सिर्फ कर्तव्य की श्रेणी में आता था।

दीदी सचमुच भाग्यवान थीं। उनके समय में घर में संपन्नता थी, प्रचुरता थी। अभाव तो खैर अब भी ऐसा खास नहीं था। घर में अनाज का भंडार था। सुबह-शाम भैंसें लगती थीं। मौसम की शाक-सब्जी बगीचे से आ जाती थी। फिर भी कुछ चीजें होती हैं, जिनके लिए बाजार दौड़ना पड़ता है। उसकी व्यवस्था कैसे हो, समझ में नहीं आता था। बचपन से तो यही देखा था कि बाबू जी हर महीने एक निश्चित रकम मां के हाथ में पकड़ा देते थे। भैया लोग कमाने लगे तो उन्होंने भी इसी नियम का पालन किया। पैसे देकर वे लोग चिंतामुक्त हो जाते थे। फिर मां अपनी सूझ-बूझ और सुविधा के अनुसार घर चलाया करती थीं। उसी के साथ-साथ दान-पुण्य, तीज-त्योहार, लेन-देन चलता रहता। बड़े खर्च सब बाबू जी के जिम्मे थे। यह बरसों से एक सुनिश्चित व्यवस्था थी।

यहां व्यवस्था नाम की चीज ही नदारद थी। घर की मालकिन मां जी थीं पर वे अकसर घर से बाहर रहतीं। वे जितनी देर घर में रहतीं, गहन चिंता में डूबी रहतीं। उनसे कभी कुछ कहने की हिम्मत ही न पड़ी। सुनीत सामने होती तो उसे मध्यस्थ बनाकर मैं घर खर्च के लिए कुछ मांग लेती। पैसे तो मिल जाते पर क्यों, किसलिए जैसे हजारों प्रश्नों की झड़ी लग जाती। पिछली बार के पैसे इतनी जल्दी कैसे उठ गये, इस पर बाकायदा आडिट आब्जेक्शन आता। पूछने का ढंग इतना बेबाक और धारदार होता कि मैं अपराध-बोध से भर उठती।

घर में एक अदद पतिदेव भी थे जो इन दिनों अकसर घर पर ही रहते। पर कभी उनके आगे हाथ फैलाने का मन नहीं हुआ। एक गांठ-सी

मन मे पड़ गयी थी। बस, एक देहधर्म की मजबूरी थी जिसे हम लोग निभा रहे थे—बल्कि मैं तो उसे सजा की तरह भुगत रही थी।

मेरे पास कुछ थोड़े-से रुपये थे। राखी के, मुंहदिखाई के। घर से चलते समय अक्सर बाबू जी भी कुछ-न-कुछ पकडा ही देते थे। मेरी वह छोटी-सी पूंजी बक्से मे सुरक्षित रखी रहती थी। पर अब, बदलते समय के साथ मेरे पर्स का मुह धीरे-धीरे खुलने लगा था। कई बार ऐसी विवशता आ जाती कि मुझे ही व्यवस्था करनी पड़ती। तब वह छोटी-सी रकम भी मेरे लिए एक सबल बन जाती। उसी के बल पर कई बार मेरा स्वाभिमान सुरक्षित रह सका था।

उस दिन भी मैं एकदम आश्वस्त होकर ही ऊपर गयी थी। नीचे कहारिन बैठी थी, अपनी बिटिया और नाती के साथ। पहलौठी के बेटे को लेकर बिटिया अरसे बाद पीहर आयी थी। मुझे देखने का चाव था इसलिए मां के साथ कोठी पर चली आयी थी। दुबली-पतली, सांवली-सी बडी प्यारी लड़की थी वह। इतनी मासूम कि विश्वास ही न हो रहा था कि ये उस गुलगोथने बच्चे की मां है। भाभी-भाभी कहकर लिपटी जा रही थी—एकदम सुनीत जैसी लगी मुझे।

वे लोग चलने को हुई तो मुझे चिंता हुई। मेरा मन तो अपनी इस मुहबोली ननद को एक साड़ी देने का हो रहा था। मा के यहा यही सब देखा था। नौकरानी भी पहली बार बच्चे को लेकर आती तो मां कपड़े से, नारियल से, गुड़ और चावल से उसकी गोद भरती। रुपये देती सो अलग।

इस घर का क्या रिवाज है, मुझे पता नही था। नया कुछ करने का साहस नही था। मा जी और सुनीत, दोनों ही घर पर नही थीं। मैंने सोचा, लड़की तो अभी रहेगी। उसके लिए बाद में भी सोचा जा सकता है, पर बच्चा तो पहली बार आया है, उसे खाली हाथ कैसे भेज दूं?

उन्हें रुकने के लिए कहकर मैं ऊपर आयी। जल्दी से ताला खोलकर पर्स निकाला, चेन खींचकर अंदर हाथ डाला तो धक से रह गयी। अंदर एक मुड़ा-तुड़ा दो का नोट और कुछ सिक्के पड़े थे, बस। दोनों हाथों में कसकर पर्स पकड़े हुए मैं कितनी देर पत्थर-सी खड़ी रह गयी। कोई

कारूं का खजाना तो नही था मेरे पास। एक छोटी-सी पूजी थी, जिसमे खुले हाथों खर्च कर रही थी। कहां तक साथ देती ?

बाहर के कमरे मे कर्कश स्वर मे रेडियो वज रहा था। ये आरामकुर्सी में धंसे उसका आनद ले रहे थे। बहुत कोफ्त हुई मुझे। यहां मैं तिल-तिल-कर घर के लिए खट रही हूं और यह आदमी मजे मे बैठा सिगरेट फूक रहा है, संगीत सुन रहा है।

तैश में आकर मैंने रेडियो वंद किया और कहा, "एक दस का नोट दीजिएगा जरा।"

वे शायद इस व्यवधान से बहुत खुश नही हुए। कसैले स्वर मे बोले, "क्यो ? ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी ?"

"कौशल्या काकी अपने नाती को लेकर आयी है। उसे देना है।"

"कहारिन के नाती को दस रुपये दोगी तुम ! बड़ी धन्नासेठ हो !"

"इसमे धन्नासेठ होने की क्या बात है ? यह तो व्यवहार है, सभी के यहां होता है।"

"होता होगा, हमारे यहां नही होता। अपने बाप के घर से लेकर आयी थी जो यहा रुपये लुटा रही हो ?"

मैं दंग रह गई। क्या किसी शरीफ घर में इस तरह की भाषा बोली जाती है ? क्या हम झुग्गी-झोपड़ी वालों से भी वदतर हो गये है ? आवेश मे आकर मैंने उसी लहजे मे कहा, "बाप के यहा से तो तीस हजार लेकर आयी थी पर कभी बीस पैसे भी मुझे देखने को नही मिले।"

और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना नीचे चली आयी मैं। दो का नोट बच्चे के हाथ में पकडाते हुए मन भारी हो आया था। क्या होते हैं आज-कल दो रुपये ? एक नारियल भी नही आता उतने मे।

दस-बारह दिन तक ये मुझसे खिचे-खिचे रहे। मैंने भी मनाने की कोई कोशिश नही की। इस व्यक्ति से अपना कोई संबध है, यह याद करना भी मेरे लिए कष्टकारक था।

फिर एक दिन दोपहर में ये अनायास ही मेरे पास आकर बैठ गए। ड़ेव सहज भाव से मेरे हाथ की किताब लेकर इन्होंने परे रख दी और

बोले, "कहिए, आजकल आपकी अपनी ननद रानी के साथ कैसी छन रही है ?"

"खूब छन रही है ! क्यों ?" मैंने अचरज से पूछा।

"ये फोटो दिखानी थी।"

मैंने फोटो देखी, मन प्रसन्न हो गया। सुनीत के लिए ऐसे ही सुदर्शन वर की मैंने कामना की थी। अच्छा भी लगा, मेरी न सही इन्हें बहन की चिंता तो है। कम-से-कम याद तो है कि चाचा जी के बाद यह उत्तर-दायित्व अब हमें ही निभाना है।

सुनीत भी देर तक उस मनमोहिनी छवि को निहारती रही। "अब देखती ही रहोगी या कुछ कहोगी भी ?" मैंने कोचा।

"अब कहने को क्या है ?"

"अरे वाह, एकदम गूगे का गुड़ हो गया ?"

पर मेरी इस चुटकी को अनसुना करते हुए उसने संजीदगी से कहा, "इसका मतलब है, भैया चुनाव लड़कर ही रहेंगे।"

"क्या बकवास है ?" मैंने खीजकर कहा, "हर बात मे राजनीति ! इससे परे क्या तुम लोग कुछ सोच ही नही सकते ?"

"यह बकवास नही है भाभी, हकीकत है। अगले महीने उपचुनाव हो रहे हैं। उसके लिए भैया बहुत हाथ-पैर मार रहे है। पर अब तक टिकट के बारे मे कोई समझौता नही हो सका है। चाचा जी की सीट प्रतिष्ठा-वाली सीट थी। पार्टी उसे किसी कीमत पर खोना नही चाहती।"

"होगा, लेकिन चुनाव का तुमसे क्या सम्बन्ध है ?"

"मुझसे न सही, इन श्रीमान् जी से तो है। इन्हें टिकट मिलना लग-भग तय हो चुका है। इसीलिए मेरा चारा डालकर इन्हे फुसलाया जा रहा है।"

सुनकर सन्न रह गई मैं। पूछा, "जानती हो इन्हें ?"

"बहुत अच्छी तरह ! भैया के पुराने प्रतिद्वंद्वी हैं। चार-साल तक कालेज मे दोनों की खूब ठनी रही।"

"तुम्हारे भैया चार साल कालेज मे पढ़ चुके हैं ?"

"पढ़ने-लिखने का मैं नहीं जानती, चार साल तक कालेज जरूर गए

हैं। दो-दो साल आर्ट्स और साइंस, दोनो के गलियारों में घूम-घामकर चले आए।"

"और ये महाशय ?"

"एम० एस-सी०, एल-एल० बी० हैं। एम० एस-सी० मे तो गोल्ड मेडलिस्ट रह चुके हैं। इस समय बाररूम और राजनीति के उभरते सितारे है। अगर निर्दलीय भी खडे हो जायें तो भैया उनसे जीत नही सकते।"

"लेकिन सुनीत, अभी तो तुमने बताया कि वे कालेज मे तुम्हारे भैया के कट्टर प्रतिद्वंद्वी रह चुके हैं। अब तुम्हारे लिए ये उन्ही की चौखट पर जायेंगे. उनके पैर पूजेंगे—यह बात तो गले नहीं उतरती।"

"उतरेगी भी नही, क्योंकि यह राजनीति है, और राजनीति आपकी समझ से परे है। राजनीति का पहला पाठ है अपने विरोधियों को गले लगाओ।"

"क्यों ?"

"इससे अहंकार का नाश होता है और आत्मा शुद्ध हो जाती है। संन्यासी को सबसे पहले किस बात की दीक्षा दी जाती है, जानती है ? भिक्षावृत्ति की। इससे उदरपूर्ति तो खैर होती ही है, पर सबसे बडी बात यह है कि इससे अहंभाव जलकर खाक हो जाता है। राजनीति भी तो एक तरह से राजसंन्यास ही है। इसीलिए इसका घोषवाक्य है—अपने प्रतिद्वंद्वी की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाओ, उसे गले लगाओ। इससे भी काम न बने तो पैर पकड़ लो। एक बार स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर फिर भले ही अंगूठा दिखा दो।"

"बस कीजिए पंडित जी महाराज, अपना प्रवचन। हमे नही सीखनी है आपकी राजनीति। हम तो इतना जानते हैं कि आपके भैया ने आपके लिए जो वर चुना है, वह लाखों में एक है। ऐसे सर्वगुणसंपन्न लड़के आज-कल मिलते कहां है !"

"हां, सो तो है।" उसने सपाट स्वर में कहा, फिर आलथी-पालथी मारकर प्रार्थना की मुद्रा मे बैठ गई और गाने लगी :

महादेव अवगुन भवन, विष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम॥

बोल सियावर रामचंद्र की जै ।

"अरे वाह रे, मेरी गौरा-पर्वती ! " मैंने उसकी बलैया लेते हुए कहा, "हमें हवा भी न लगने दी ।"

वह फोटो अब एकदम अप्रासंगिक लग उठा था ।

बहुत डर रही थी मैं कि ये पूछेंगे तो क्या उत्तर दूंगी ? पर ये इतने व्यस्त थे कि कुछ कहने-सुनने का समय ही न मिला । फोटो भी मेरे पास ही रखा रह गया था । मैंने जान-बूझकर लौटाया नहीं । अच्छा ही था जो प्रसंग अपने-आप दब गया था । मैंने दोबारा उठाने की चेष्टा नही की ।

घर में उन दिनों गहमा-गहमी थी । पंडितों की, ज्योतिषियों की बैठक लगी रहती थी । कुंडलियां परखी जा रही थीं, मुहूर्त निकाले जा रहे थे । मां-बेटे-दोनो दिन-भर हाथ बांधे सेवा में तत्पर खड़े रहते ।

मेरा भी सारा दिन नीचे रसोई में ही बीतता । किसी के लिए दूध गरम हो रहा है, तो किसी की चाय बन रही है । कोई फलाहार करेगा, तो किसी को नाश्ता चाहिए । अमुक के लिए अलोना खाना बनेगा, अमुक जी बेंगन की सब्जी नहीं खायेंगे । ऊपर से आदेश आते रहते, उन्हें पूरा करते-करते मैं हांफ उठती ।

मेरी समझ से तो ये सारी चुनाव की पूर्व तैयारी थी । फिर अचानक मुझे उन लोगों की बातचीत में फलदान, वरिच्छा, मिथुन लग्न जैसे पारिभाषिक शब्द भी सुनाई देने लगे । मेरा माथा ठनका । उस दिन बाजार से बड़े-बड़े थाल आए थे, तो गोबिंदी ने ही मुझे बताया कि उन्नीस तारीख को वरिच्छा चढ रही है ।

उन दिनों इनके दर्शन दुर्लभ हो रहे थे । फिर भी किसी तरह इन्हे अकेले मे घेरकर मैंने पूछ ही लिया, "सुनीत की शादी तय हो गई है ?"

"हा ।"

"मुझे बताया भी नही ।"

"क्यों ? तुमसे पूछकर ही तय करनी थी क्या ?"

"नही, लेकिन घर की बात मुझे नौकर-चाकरो से पता चले यह भी

तो ठीक नहीं है। मेरी खैर, कोई बात नहीं है पर सुनीत से तो पूछ लिया होता ?"

"हमें तो उतनी अकल नहीं आई। अब तुम पूछ लेना !" उनके स्वर में व्यंग्य था। उपहास था। फिर भी मैं भागी-भागी सुनीत के कमरे में गई। देवी जी मजे से किसी पत्रिका से कोटेशन उतारने में मगन थी। उसे यह खब्त ही था कि जहां कोई अच्छा-सा वाक्य या कविता की पंक्ति या शेर देखती, झट कापी में उतार लेती। ऐसी-ऐसी चार कापियां भर ली थी उसने। उसकी तल्लीनता देखते ही बनती थी। मैंने सोचा, कितनी कुशाग्र बुद्धिवाली है यह लड़की। हर बात की तह तक पहुंचकर दम लेती है। फिर एकदम खयाल आया, जो बात मैंने नौकरों-चाकरों की बातचीत से जान ली, उसकी भनक क्या इसके कानों तक न पहुंची होगी ? यह तो बेरोक-टोक घर-भर में घूमती रहती है। इससे कौन-सी बात छिपी रह सकती है…!

टोह लेने के लिए मैंने पुकारा, "बधाई हो गौरा-पार्वती जी !"

"किस बात की ?"उसने लिखना जारी रखते हुए पूछा।

"आपकी शादी के बाजे बस बजने ही वाले हैं।"

"हूंह, यह तो पुरानी बात हुई। मैंने सोचा, कुछ नयी खबर होगी।"

मैं देखती रह गई। क्या है इस लड़की के मन में ? उस दिन मैंने पूछा था, 'हमें बताओगी नहीं ? कौन हैं तुम्हारे भोलेनाथ ?' तब बड़ी अदा से बोली थी, 'तुम्हें न बतायेंगे सखी, तो किसे बतायेंगे ! तुम्हीं तो हमें इस कारागार से मुक्ति दिलाओगी।"

और अब कितने निर्लिप्त भाव से कह रही है, "हूंह, यह तो पुरानी बात हुई।"

"बैठो न भाभी !"

"न बाबा ! बैठने की फुर्सत यहां किसे है। मैं तो बस बधाई देने चली आई थी। अभी-अभी खबर मिली तो मैंने सोचा, लगे हाथ यह शुभ कार्य भी निपटा ही दूं।"

"नाराज हो ?"

"कौन, मैं ? अरे नहीं। नाराज-वाराज क्यों होने लगी ? बस, थोड़ा-

सा दुख हो रहा है। सो भी तुम्हारे भोलेनाथ के लिए।"

"और मेरे लिए ?"

सिर्फ हस दी मैं। कहा कुछ नही।

"भाभी, तुमने इतिहास पढा है ?"

"हा। बी० ए० मे विषय था मेरा।"

"तो तुमने यह भी जरूर पढ़ा होगा कि पुराने राजा लोग, लड़ाइया तो खुद लड़ते थे पर जब संधि करने की नौबत आती तो अपनी कन्याओ को सधिपत्र का मसौदा बना लेते थे। हम लोग भी तो किसी राजकन्या से कम नहीं हैं। जब उन लोगों जैसा ऐश्वर्य भोगा है तो अभिशाप भी भुगतना होगा।" मैं चुप।

"जानती हो भाभी, अम्मा इस चनाव मे अपना सब कुछ दाव पर लगा रही हैं।"

"तुम भी तो लगा रही हो।"

"मेरे हिस्से का त्याग मुझे भी करना ही था। कुछ कर्ज होते है भाभी, जो चुकाने ही पड़ते हैं।"

"जैसे छोटी दीदी ने चुकाया था।"

"हां, जैसे छोटी दीदी ने चुकाया था। जैसे बड़ी दीदी ने चुकाया था। मात्र चौदह वर्ष की थी बड़ी दीदी और अट्ठाईस साल के दूल्हे से ब्याह दी गई थी। सिर्फ इसलिए कि उनके श्वसुर तब यहां कलेक्टर थे। कभी कोई ऊंच-नीच हो जाए तो सरकारी अमले मे अपना भी कोई आदमी हो, इसी उद्देश्य से यह रिश्ता हुआ था।"

"छोटी दीदी ने तो अपने भाग्य के लेखे को सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया। बड़ी दीदी उसका प्रतिशोध सबसे लेती फिरती हैं।"

"तुम्हारी 'लाइन आफ ऐक्शन' क्या होगी ?"

"ये मैं कैसे बता दूं, वक्त ही बतायेगा।"

उसे वक्त के आगे यूं घुटने टेकते देखकर मन जाने कैसा हो आया। मैंने अपने-आप को समझाया भी कि वंदना जी, इसमें इतना दुख या आश्चर्य करने जैसा क्या है ? यह कोई अनहोनी तो नही हो रही ? सभी हिंदुस्तानी लड़कियां इस तरह के समझौते करती हैं। तुमने भी तो किया है। इतने

घिनौने, मिथ्या आरोपों के बावजूद तुम तन-मन-धन से पति सेवा में जुटी हुई हो कि नहीं ?

परंतु फिर भी मन को संतोष नहीं हुआ। मेरी बात दूसरी थी। मुझमें और आम भारतीय लड़की में कोई अन्तर न था। पर सुनीत को मैं सबसे अलग समझती थी। लगता था, उसमें एक स्पार्क है, चिनगारी है। वह एक तरह से मेरे व्यक्तित्व की पूरक थी। जो साहस, जो दिलेरी मुझमें नहीं थी, वह उसमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। जो बात मैं सोचकर रह जाती थी, वह धड़ल्ले से कह डालती थी। जो बात मैं सोच भी नहीं सकती थी, वह कर गुजरती थी।

इसीलिए वह मुझे बहुत अपनी-सी लगती थी।

जब उसके व्यक्तित्व को आलोकित करनेवाला यह वलय हट गया तो वह दीदी लोगों की मालिका की एक कड़ी-भर रह गई। उसे सुनीता जी कहकर पुकारने की इच्छा होने लगी।

अपनी चिरपरिचित सुनीत के बिना घर एकदम खाली-खाली-सा लग उठा।

कितनी अकेली पड़ गई थी मैं।

और एक दिन शुभ मुहूर्त में इन्होंने नामांकन-पत्र दाखिल कर दिया। उसके दूसरे ही दिन धूम-धाम से सुनील की सगाई संपन्न हो गयी। चाचा जी की मृत्यु के बाद घर में एक ठहराव-सा आ गया था, वह एकदम चहल-पहल से भर उठा।

अपने अनोखे मृत्युपत्र के कारण चाचा जी पिछले दिनों सबके कोप-भाजन बने हुए थे। ये तो कभी-कभी ऐसा वाही-तवाही बक देते थे कि सुनते भी संकोच होता था। पर अब उनकी एक बड़ी-सी तसवीर बड़े हाल में लग गयी थी। रोज़ उस पर ताज़े फूलों का हार चढ़ाया जाता, सुबह-शाम अगरबत्ती जलायी जाती। उस दिन कलेक्टरेट जाते समय इन्होंने पहले वहां मत्था टेका, मां जी को बाद में प्रणाम किया। इनकी हर बात में अब पूजनीय चाचा जी का उल्लेख जरूर होता। उनका नाम लेते हुए ये श्रद्धा से ऐसे भर उठते कि बस!

वैसे भी इनकी भाषा अब बहुत सौम्य हो गयी थी। बात-बात मे गाली निकालने की आदत तो पुरानी थी—वह आसानी से छूटनेवाली नही थी, किन्तु इसके अतिरिक्त जो कुछ कहते, वह शालीन होता था।

इनकी बदली हुई भाषा-शैली का रहस्य भी मैं जान गयी थी। राज-शेखर अब नित्यप्रति ही घर पर आने लगे थे। बहुत ही शिष्ट, सुसंस्कृत, हंसमुख युवक थे। बात करने का ढंग ऐसा कि सुनने वाला प्रभावित हुए बिना नही रहता। एक-दो बार उन्हे मंच से भी सुनने का अवसर मिला। वाणी के धनी थे। सरस्वती जैसे उनकी जिह्वा पर नाचती थी। उनकी तुलना में इनका भाषण उबाऊ ही लगता, ये अधिक बोलते भी नही थे। पर कुल मिलाकर दोनों का प्रभाव अच्छा पड़ता। दो विरोधी खेमों को एक मंच पर देखकर जनता भी प्रभावित होती।

सुनील ने ठीक कहा था, 'यह आदमी निर्दलीय भी खड़ा होता तो

इनके लिए टक्कर भारी पड़ जाती।'

राजशेखर जब तक घर पर रहते, उत्सुक आंखों से टोह लेते रहते। बेचारे को हर बार निराश होना पड़ता। सुनीत कभी सामने नही आती, शर्मीली दुलहिन की तरह कमरे में ही बैठी रहती।

पुराना रिश्ता यदि कायम होता तो मैं इसी बात को लेकर खूब चुटकी लेती, उन लोगों के मिलने-मिलाने की खुद व्यवस्था करती, पर अब उत्साह ही नही रह गया था। और फिर समय ही कहा रह गया था।

चुनाव मैंने अब तक सुना-भर था, इतने पास होकर पहली बार देखा, सुबह से घर पर मेला लगा रहता। पता नही, कहां-कहां के लोग डेरा डाले हुए थे। कहां तो मुझसे नौकरों तक से पर्दा करवाया जाता था, कहां अब हर कोई ऐरा-गैरा 'भाभी-भाभी' कहकर रसोई में घुसा चला आता था। जिनकी शक्ल देखने से घृणा होती थी, उनके लिए थाली सजाकर देनी होती थी—हंस-हंसकर खिलाना पड़ता था। श्रीमान् जी की सख्त ताकीद थी कि कोई नाराज न होने पाये। यही तो उनकी सेना के सिपाही थे। मोर्चे की दारोमदार इन्ही लोगों पर थी।

ये सुबह से अपनी फौज लेकर निकल जाते तो रात गये लौटते। देर हो जाती तो रात गांव में ही टिक जाते तब मां जी चिंता के मारे रात-भर जागती रह जातीं।

ये जब भी लौटते, पसीने से लथपथ—धूल-सने होते। पर चेहरे पर एक संतोष होता, आत्मगौरव का भाव होता। मुझे भी उनका वह धूलि-धूसरित थका-मांदा रूप भाने लगा था। सोचती हूं, शायद हर स्त्री को पति का यह श्रमसिंचित रूप ही सबसे ज्यादा लुभाता है। उन क्षणों मे वह केवल पत्नी नही रहती, मां बन जाती है।

मन मे छिपी इस मां की आंखों से जब उन्हें देखती तो सोचती, 'हाय, कितना खट रहे हैं!' ये इतना परिश्रम कर सकते हैं, कभी सोचा भी न था।

चाचा जी शायद इस बात को जानते थे। अकसर कहते, "यह लड़का किसी काम का नही है इससे बस चुनाव लड़वा लो।"

तब उनकी यह बात निराशा की, नाराजगी की परिचायक होती थी। बेचारे सब करके हार गये थे। उन्होंने इनके लिए बरसो पहले एक छोटी-सी दाल मिल डाल दी थी। फिर सीमेंट का परमिट दिलवाकर देख लिया। पिछले साल तो गैस की एजेंसी भी खुलवा दी थी। पर इनका मन कही नही लगा। उन्ही दुकानों पर चाचा जी के भक्तगण बैठकर माला-माल हो गए।

छोटी दीदी फिर लौट आयी थी, पर इस बार पूरे आत्मसम्मान के साथ। सारी परपराए ताक पर रखकर मा जी खुद उनके गाव गयी थी। बेटे को समधी जी के चरणों मे डालकर बोली, "लाला तो चले गये। अब आप ही घर के बड़े हैं। आप ही को सब देखना है।"

पर अब दीदी रसोई की तरफ झाकती भी नही थी। सारी व्यवस्था अपने-आप जो हो रही थी। मिसरानी मौसी थी, गोबिंदी थी—फिर भी काम सभाले नही सभलता था। दिन-भर चाय, दिन-भर नाश्ता। (दूसरे भी दौर चलते थे पर उनसे मुझे कोई सरोकार न था।)

'बऊ' का इन दिनों बड़ा सहारा रहा। वह चौबीसों घंटे मेरे साथ बनी रहती। पहली बार मैंने अनुभव किया कि चाचा जी कितने दूरदर्शी थे। उन्होंने बऊ को अहमानों से इतना लाद दिया था कि बिना मोल की दासी होकर रह गयी थी। चुनाव मे गड़े मुर्दे उखाड़ने का खूब प्रयास किया गया। दरबारी की हत्या को फिर से उछाला गया। रामसजीवन कक्का की मृत्यु का रहस्य जानने के लिए लोगों ने बऊ की खूब घेराबदी की। पर उसने किसी को हाथ नही रखने दिया। बूढ़ी थी, अनपढ थी—पर व्यवहारकुशल थी। जानती थी, यह चुनावी हमदर्दी है। कल को ये लोग बात भी न पूछेंगे। फिर वह अपनी लगी-लगाई क्यों छोड़े, पति की मृत्यु को उसने कर्मों का फल कहकर स्वीकार कर लिया।

मन्त्रिमंडल के लिए यह जिला जैसे एकदम तीर्थस्थल बन गया था। इतने लोग तो चाचा जी की मृत्यु पर भी नही आये थे, जितने श्रद्धांजलि देने अब पहुचने लगे। बहाना तो सरकारी टूर का होता था पर उसके मर्म

को सब समझते थे। इसीलिए सरकारी अमला भी कुछ-कुछ प्रभावित, कुछ-कुछ आतंकित हो चला था। जो भी मंत्री जिले के सदर मुकाम पर आते, उनकी चाय या एक समय का खाना घर पर अवश्य होता। मंत्री महोदय अपने पूरे लवाजमे के साथ आते। घर-भर से उनका परिचय करवाया जाता और वे हमें कृतार्थ करते हुए-से खा-पीकर चले जाते।

सबसे खुशी की बात तो यह हुई कि मुख्यमंत्री स्वयं आशीर्वाद देने के लिए पधारे। वे मुश्किल से दस मिनट रुके होंगे, पर व्यवस्था ऐसी थी मानो सुनीत की बरात ही आ रही हो। पूरा लान शामियाने से ढक गया था।

उस दिन रात को सभी लोग थककर चूर हो गये थे। मैं मां जी के सिर में तेल डाल रही थी कि ये आंधी की तरह कमरे में घुस आये, "अम्मां, कुछ पैसे दो तो।"

"अरे, अभी सुबह तो दिये थे।"

"कितने दिये थे ? सिर्फ तीन हजार। उससे होता क्या है। हजार रुपये का तो पेट्रोल फुक गया। फिर इतने लोगों का खाना-पीना। शामियाने के तो अभी बाकी ही हैं। हिसाब बाद में लेना, अभी मेरे पास समय नहीं है। प्रेस से पोस्टर्स उठाना है। गाड़ी तैयार खड़ी है, रात को ही रवाना कर दूंगा।"

मां जी उठीं, कमर से चाबी निकालकर अलमारी खोली और नोटों की एक गड्डी इनके हाथ में पकड़ाते हुए बोलीं, "पूरे दो हजार हैं। गिन लेना। और हिसाब मुझे दिखाने की जरूरत नहीं है। अपनी बहुरिया को दिखाया करो। इन्हें पता तो चले कि बीस हजार इस घर में कै दिन चलते हैं।"

शर्म से, अपमान से लाल हो आयी मैं। मां जी की बात का मैंने बुरा नहीं माना। हिंदुस्तानी सास के लिहाज से यह उलाहना बहुत ही सौम्य थी।

पर मेरी कही बात ये इस तरह मां जी तक पहुंचा देंगे, यह नहीं सोचा था। क्या पति-पत्नी के बीच कुछ भी अतरंग नहीं रहेगा इस घर में ?

हे ईश्वर ! कितना बांधती हूं मैं मन को। कितने जतन से श्रीचरणों में लगाने का यत्न करती हूं। पर एक क्षण में सब मिट्टी हो जाता है।

कई दिनों से सुबह-शाम ठाकुर जी के आगे हाथ जोड़कर इनकी विजय की कामना करती थी मैं। पर लगता है, प्रार्थना के वे मंत्र अब कभी मन से फूटेंगे ही नहीं।

उनकी जीत मेरी प्रार्थना की मोहताज नहीं थी।

पता नहीं, कितने ही लोगों की शुभकामनाएं उनके साथ थीं। मां जी ने उनके लिए जाने कितने देवता पूज रखे थे। बहनों ने मनौतियां मानी थीं। बाबू जी बतला रहे थे कि मां ने भी संकटमोचन पर सवा मन लड्डुओं का प्रसाद बोला हुआ था।

बाबू जी चुनाव के दो-चार दिन पहले से आ गये थे। साथ में कार्य-कर्ताओं के रूप में रिश्ते के भाई-भतीजों को भी ले आये थे।

मतगणनावाले दिन घर में अजीब सन्नाटा था। सारे पुरुष कलेक्टरेट में डेरा डाले हुए थे। मा जी सुबह से बिना खाए-पीए ठाकुर जी के कमरे में बंद हो गयी थीं। बहनें फोन से कान लगाए बैठी थीं। नौकर-चाकर अटकलबाजी में व्यस्त थे। फुसफुसाहट वातावरण को और बोझिल बना रही थी।

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूं। परिणाम को लेकर मेरे मन में कोई विशेष उत्सुकता नहीं थी कि तनाव, आशंका और दुश्चि-न्ताओं से भरा यह माहौल अब समाप्त हो जायेगा।

चुनाव क्या था, एक लंबा-चौड़ा नाटक था। सुखांत होगा या दुःखांत, बस यही जानना शेष था। उस दिन वोट डालने गयी थी। पूरे हाथ-भर का बैलट पेपर था। चौदह उम्मीदवार थे। नाई, धोबी, काछी, कहार— सबका प्रतिनिधित्व। रिश्ते के एक देवर बता रहे थे कि इनमें से कइयों के पास तो जमानत तक के पैसे नहीं थे, यहीं से व्यवस्था हुई है। बैठने का क्रम तो अंतिम दिन तक चलता रहा। हरेक की अपनी कीमत थी।

ये सारी बातें मन को कहीं गहरे कुरेदती थीं। इसीलिए मैं उस क्षण की प्रतीक्षा में थी जब यह सारी आपाधापी समाप्त हो जायेगी। हम सामान्य जीवन जी सकेंगे।

अपने कमरे में निरुद्देश्य बैठी थी मैं कि स्कूटर की आवाज आयी। खिड़की से झांककर देखा—राजशेखर थे। मैं उठी और एक सांस में सीढ़ियां उतरकर नीचे आ गयी। और तब मुझे भान हुआ कि उदासीनता का मेरा यह खोल कितना नकली था।

"बधाई हो भाभी जी ! मिठाई खिलाइए !" उन्होंने आते ही आवाज बुलंद की।

"क्या रिजल्ट निकल गया ?"

"बस, निकला ही समझिए, साठ प्रतिशत वोटों की गिनती समाप्त हो चुकी है। ट्रेंड तो उसी से पता चल जाता है। दुश्मन तो कब से मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए हैं। चार बजे तक डिक्लेयर हो जाना चाहिए। मैं तो भागा-भागा इसलिए आया हूं कि यह खुशखबरी सबसे पहले सुनाने का सम्मान मुझे मिले।"

"सचमुच बहुत कृतज्ञ हूं मैं।"

तब तक सारा घर वहां इकट्ठा हो गया था। मां जी भी पूजा से उठ आयी थीं। मेरी बात का सिरा पकड़कर बोलीं, "बहू ने ठीक ही कहा है। मुन्ना जीता है तो तुम्हारे दम से। उसके अकेले के बस का नहीं था।"

"अम्मां, हम तो इस अखाड़े के पुराने खिलाड़ी हैं।" उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, "कालेज के जमाने में आमने-सामने खड़े होते थे। इस बार साथ-साथ खड़े हैं, बस।"

"जिंदगी-भर ऐसे ही साथ निभाना बेटा !" मां जी ने अश्रुविगलित कंठ से कहा। फिर अपनी हीरे-जड़ी अंगूठी उतारकर भावी जामाता की हथेली पर रखते हुए बोलीं, "ये मेरा नेग है बेटा, मना मत करना।"

"इसे कहते हैं हौसला-अफजाई। आपकी बहूरानी ने तो एक धन्यवाद देकर टरका दिया था।"

"अब आपके रहते मैं इनाम देते अच्छी लगूंगी ?" मैंने नम्र स्वर में निवेदन किया तो वे एकदम पलटीं और आंखें तरेरकर बोलीं, "कम-से-कम उसका मुंह तो मीठा करा सकती थी।"

मैं सकपकाकर भीतर भागी। सुबह ठाकुर जी के भोग के लिए ढेर-सी मिठाई आयी थी। उसी को प्लेट में सजा रही थी कि छोटी दीदी

दौड़ी आयीं। बोलीं, "वदना, यह सब तो मैं कर लूंगी। तुम जल्दी से जा कर शृंगार कर लो। भैया बस आने में ही हैं।"

शृंगार किस लिए करूंगी? आरती उतारनी है?"

"तो क्या आरती नहीं उतारोगी? पहला चुनाव जीतकर आ रहा है मेरा वीर! उसका स्वागत नहीं करोगी? उसके बाद जुलूस में भी तो जाना है।"

"जुलूस में?"

"हां, विजय-जुलूस में," सुनीत पीछे-पीछे आ पहुंची थी; मुंह बनाकर बोली, "अम्मा भी कभी-कभी कमाल कर देती हैं। बताओ यह कोई रामलीला की सवारी है कि जुगल-जोड़ी विराज रही है, रथ चला रहा है। और हम-तुम क्या करेंगे दीदी? चंवर डुलायेंगे?"

"ये हमसे क्यों कह रही हो? अम्मां से जाकर कहो न! उनके सामने तो मुंह नहीं खुलता।" दीदी बोली।

"मुंह तो खूब खुलता है। पर अम्मां आज इतनी खुश हैं कि उनका मूड खराब करने की इच्छा नहीं हुई। चलिए भाभी जी, हाई कमान का हुक्म है आपको तैयार किया जाये।"

"यानी कि एकदम शोभा यात्रा ही निकलेगी हमारी!"

'बिलकुल! इसमें कोई शक है?"

"सुनीत," कमरे में आते ही मैंने कहा, "इस घर के रीति-रिवाज समझना सचमुच बहुत कठिन है। कहां तो तुम लोग इतने दकियानूसी हो कि शादी में जयमाल तक नहीं होने दी। इतने अरमान से सहेलियों ने शृंगार किया था। दो-दो फोटोग्राफर्स बुलवाए गए थे। और अब शहर में जुलूस निकाला जा रहा है।"

"तुम समझती नहीं हो भाभी। तब तुम किसी की बहू थीं। आज एक युवा नेता की, विधायक की पत्नी हो। कल को शायद मंत्री की पत्नी बनोगी। तुम्हें तो अब जनता के बीच ही रहना होगा।"

"मंत्री का पत्नी ! सुनीत, सपने देखना तो कोई तुम लोगो से सीखे।"

"हम लोग सिर्फ सपने देखते ही नही है भाभी, उन्हें पूरा करने का हौसला भी रखते हैं। अम्मा की गोट देखो, कितनी सही बैठी है," उसने मेरे वाल सुलझाते हुए कहा, "अम्मा खूब समझती थी कि चाचा जी की मृत्यु का घाव जव तक हरा है, तभी तक उसे भुनाना होगा। जनता की सवेदनाएं भोथरी पड़ने से पहले ही आवाज उठानी होगी। उनका अनुमान कितना सही निकला।"

'हा, यह भी एक गणित ही है। नौसिखियो के वस की वात नही है।" मैंने कहा। मेरे स्वर की निर्लिप्तता से वह कुछ चौकी। अपना कधीवाला हाथ रोककर उसने पूछा, "भैया के जीतने से तुम खुश नही भाभी ?"

"खुश क्यों नही हू ? हा, तुम लोगों की तरह रोमाचित, पुलकित, उच्छ्वसित वगैरह नही हूं। वह मेरा स्वभाव ही नही।"

"स्वभाव की वात नही है भाभी, दरअसल तुम्हें अहसास ही नही है भैया की जीत इस घर के लिए क्या है ? तुमने कभी सालों तक अनिर्वध सत्ता का सुख नही भोगा। तुम नही जानती कि इसका नशा क्या होता है, इसकी कैसी आदत पड़ जाती है और जब वह सत्ता एकाएक छिन जाती है, उस सार्वभौम साम्राज्य का एकाएक अवसान हो जाता है, तो मनुष्य परकटे पक्षी-सा निरीह, असहाय और पंगु हो जाता है। जिसने इस यन्त्रणा को झेला है, वही जानता है।"

उसके स्वर का गीलापन मुझे छू गया। पलटकर देखा, उसकी आखों से अविरल धार बह रही थी।

"सुनीत ! अब क्यों रो रही है पगली। आज तो हंसने का दिन है !" मैंने उसकी ठोड़ी छूकर कहा तो वह एकदम मुझसे लिपट गयी और भरभराकर रो पड़ी। मैं मूक विस्मित उसके सिर पर, गालो पर हाथ फेरती रही।

जी-भर रो लेने के बाद वह कुछ प्रकृतिस्थ हुई। शात स्वर में वोली, "तुम्हें तैयार करने का तो वहाना था भाभी। दरअसल तुमसे मिले विना जाने का मन नही हो रहा था। इसीलिए चली आयी।"

"लेकिन जा कहां रही हो ?"

"वहीं, जहा सब लड़कियां जाती हैं—अपनी ससुराल। ऐसे क्यों देख रही हो ? अपने घर नहीं जाऊंगी क्या ? हमेशा यहीं पड़ी रहूंगी ?"

शब्द जैसे मेरे मुह मे जम गए थे।

"दो बार तो इस घर के लिए दांव पर लग चुकी हूं। अब थोड़ा-सा मुझे अपने लिए भी तो जीने दो। बेचारे भोलानाथ कब तक सब्र करेंगे ?"

मैं चुप।

"क्यों, बहुत आश्चर्य हो रहा है ?"

"नही सुनीत, बहुत दुख हो रहा है। तुमने मेरा इतना भी विश्वास न किया ?"

"विश्वास न होता तो आज भी न कहती। इतने दिनों तक इसीलिए भुलावे में रखा कि कोई पूछ भी ले तो तुम कुछ बता न सको। झूठ बोलना सबके बस की बात नही है भाभी।"

"तुम बोलने की कह रही हो। मैं तो झूठ जी रही हूं सुनीत। और कितनी खूबसूरती से जी रही हूं तुम देख ही रही हो।"

"यही तो तुम्हारे संस्कार हैं भाभी। इन्हीं के लिए तो चाचा जी तुम्हें इस घर में लाए थे। भैया को सन्मार्ग पर लाने की यह अंतिम कोशिश थी।"

युवा नेता के जय-जयकार से आकाश को गुंजाता हुआ जुलूस मंथर गति से आगे बढ़ रहा था।

सबसे आगे वर्दीधारी बैंड था। उसके पीछे जयघोष करते हुए इनके सिपाही थे। उनके पीछे भांगड़ा नाचता हुआ कालेज के छात्र-छात्राओं का दल था। जुलूस के ठीक मध्य में दुलहिन की तरह सजी हुई जीप थी। जिस पर हमारी राम-सीता की जोड़ी विराजमान थी।

पीछे एक खुली कार मे मां जी छोटी दीदी के साथ बैठी हुई थी। यह विजय-जुलूस दरअसल मां जी का ही था। विजय उनकी हुई थी। हमारा तो सिर्फ जुलूस निकल रहा था। पिछले छह महीनो में जिन लोगों

ने मा जी की अवज्ञा की थी, आज का जयघोष सुनकर उनके दिल दहल गए होंगे।

मां जी की कार के पीछे भीड़ का एक रेला था। बेशुमार लोग थे। आगे-पीछे, अगल-बगल, नीचे दुकानों मे, ऊपर छज्जे पर। लोग-ही-लोग थे।

पर इस विशाल जनसमुद्र से बेखबर मेरी आंखें सुर्ख लाल साड़ी में लिपटी उस मनमोहिनी आकृति पर ही टिकी थी। अर्जुन की तरह मैं केवल उस हंसमुख चेहरे को ही देख रही थी।

भीड़ को मछली की तरह चीरती हुई कभी वह नाचने वालों के गोल में पहुंचकर थोड़ा-सा थिरक लेती। कभी उनपर पैसे वारकर बैंड मास्टर को पकड़ा देती। कभी हिरनी की-सी चपलता से जीप पर चढ आती और मुट्ठी-भर गुलाल या अंजुरी-भर फूल हम पर बरसा देती। खुशी से दमकता उसका चेहरा देखकर प्यार भी आ रहा था, ईर्ष्या भी हो रही थी। उसकी खुशी का राज मुझ तक ही सीमित था, फिर भी मन आशका में डूबने-उतराने लगता।

"जीत का यह जश्न रात-भर चलेगा," सुनीत ने कहा था, "इसीलिए तो मैंने यह मुहूर्त चुना है। इन लोगों की खुमारी टूटेगी, तब तक मैं बहुत दूर पहुंच जाऊंगी। राजशेखर जी की ही चिंता है—प्रतिशोध की आग कहीं···"

लेकिन मुझे राजशेखर की जरा भी चिंता नही है। पिछले दिनों मे उन्हें जितना जाना है, उससे कह सकती हू कि वे सुनीत की मजबूरियो को समझेंगे। कम-से-कम बहन के अपराध का दंड भाई को न देंगे।

पर मेरी बगल में बैठा हुआ यह आदमी! क्रोध के क्षणो मे क्या आदमी रह पाता है! क्या इसके पास हृदय नाम की कोई चीज है? क्या यह सुनीत को क्षमा कर सकेगा? आशंका से मेरा मन सिहर उठा।

सुनीत ने मुझे आश्वस्त किया है, "भाभी, भैया मेरा अनिष्ट कभी नही करेंगे। इतने समझदार तो वे हैं। जानते हैं कि मेरा मुंह अगर खुल गया तो उनके लिए बहुत बुरा होगा।"

फिर भी—फिर भी, क्या इस बात पर निश्चिंत हुआ जा सकता है?

एक मुट्ठी-भर गुलाल फिर से हम लोगों पर उछालकर वह भीड़ में खो गयी थी। इस बार उसकी आंखों मे एक निराली चमक थी। कही यह विदा का सकेत तो नही ।

बेंड पर इस समय 'पल्लो लटके' बज रहा था। लड़के-लडकिया अब भागड़ा छोड़कर घूमर नाचने लगे थे। मैंने बड़े यत्न से अपनी आखों को नृत्य पर टिकाये रखा था। लेकिन मन उचक-उचककर पीछे भीड़ में किसी को खोज रहा था।

शुभास्तु ते पंथानः सुनीत ! जहां रहो, सुखी रहो !

वही से मुझे असीसती रहना कि मेरी यह शोभा यात्रा शुभ यात्रा बने ! आमीन।

पुनरागमनायच्

'उन लोगों ने फोन पर पहले से ही पता कर लिया होगा, सभी अपने जैसे बेवकूफ थोड़े ही होते है !"

पिछले आधा घण्टे में अजय ने यह बात कोई पाचवी बार कही होगी और हर बार उसके स्वर की खीझ और कड़ुआहट बढती जा रही थी। ताव तो मुझे भी बहुत आ रहा था। क्या इससे पहले ट्रेनें कभी लेट नही हुईं, प्लेटफार्म पर तपस्या करने का यह पहला अवसर है, फिर बार-बार मुझे यह सब क्यो सुनाया जा रहा है ?

पर इस समय तो चुप रहने मे ही खैर थी। इन महाशय का कोई भरोसा थोड़े ही था। जरा-सा घुड़का नही कि छोड़कर चले जाएंगे। फिर प्लेटफार्म पर तपस्या करती मैं कितनी हास्यास्पद लगूगी !

पापा को आज ही टूर पर जाना था ! वह होते तो इस झक्की को घास भी नही डालती मैं। पर मजबूरी थी। इसीलिए चिरौरी करके साथ लाई हूं। मा तो मना ही कर रही थी। बोली—"अगर उनकी इच्छा हुई तो वे लोग तुम्हें यही से लेते जाएंगे। ऐसे जाना अच्छा नही लगता।"

तैयार होकर बैठी रही, लेकिन फिर मुझसे ही सब्र नही हुआ। अजय को, मा को किसी तरह पटाकर आ गई हूं, और अब वह मुझ पर कुड-बुड़ा रहा है।

अजय को क्या पता कि मन में कैसी उथल-पुथल हो रही है। कल का दिन कितनी बेचैनी से कटा है। पिछले छह दिनो तक सपनो के इन्द्रधनुषी हिंडोलो पर झूलती रही थी। कल तो उस स्वप्निल अनुष्ठान का अन्तिम दिन था। इसके बाद तो एकदम जयमाल के समय ही भेंट होने को थी।

प्रतीक्षा करते-करते पूरा दिन बीत गया। सज-सवरकर बैठी मैं भाई-बहनों की चुहलबाजी का आनन्द लेती रही। पर धीरे-धीरे उसमे भी उपहास की गन्ध आने लगी।

शाम को दुबारा साड़ी बदलने लगी तो सुधि ने टोक दिया—"ओफ्फो

दीदी ! जरा तो उन्हे अपने किए की सजा दो। उन्हे पता तो चले कि दिन-भर से तुम कितनी बोर होती रही हो। अभी उनकी आदतें मत बिगाड़ो अदरवाइज ही विल टेक यू फार ग्राण्टेड !"

सुधि की बात रख ली थी मैंने। कपड़े नही बदले थे, पर चेहरा फिर से संवार लिया। बालों में नये सिरे से फूल टांक लिए थे। सुधि तो पागल है। भला रूठने-मनाने के लिए अब समय ही कहां रहा। आज की शाम-भर तो है। मान-मनौवल के लिए तो जिन्दगी पड़ी है। और जैसा कि सुधि कहती है, घर मे एक परमानेंट 'कोपभवन' बनवा लूगी। पर आज नही, आज तो उनका स्वागत मुसकराकर ही करना है। क्योंकि यही तो विदा की शाम भी है !

पर कहा, मुसकानों के वे दीप जलकर चुक भी गए। पर उन्हे नही आना था सो नही ही आए !

तभी तो बेशर्म बनकर स्टेशन पर आना पड़ा। उन्हें एक झलक देखना था। अपने सारे उलाहने, अपना सरा प्यार आंखो-ही-आखों में उन पर उड़ेलना था। उस एक क्षण के लिए मैं राधा भी थी और मीरा भी।

ट्रेन आने में बस पाच मिनिट रह गए होगे ! जब उन लोगो की कार आती दिखाई दी, हम लोग गेट के पास ही खड़े थे। उन लोगो के आते ही अपने प्लेटफार्म टिकट मुट्ठी में दबाए हम लोग उनके पीछे-पीछे चल पड़े। प्लेटफार्म पर भीड़ का एक सैलाब-सा एकदम उमड पड़ा था। सभी बदहवास-से दौड पड़े। शायद ट्रेन के आने का सकेत हो गया था।

अपनी बाहों का घेरा बनाकर मम्मी जी मुझे उस धकापेल से बचाए हुए थी। मुझे मालूम था। घर जाकर अजय उनकी इस अदा का खूब मजाक उडाने वाला है। पर मेरा ध्यान अजय की ओर नही था। मेरी आंखें जिन्हें खोज रही थी, वह अपनी एक झलक दिखाकर भीड़ में खो गए। मेरा मन उनके पीछे दौड़ गया था। पर तन मम्मी जी की स्नेहिल बाहो में कैद था। वह मुझे लेकर एक ओर खड़ी हो गईं। ट्रेन आने पर जब सब लोग कम्पार्टमेंट तक पहुच गए थे, तब ही वह वहां से हिलीं।

पर श्रीमान जी का वहां भी पता नहीं था।

"भैया कहां गया रे दिलीप !" मम्मी जी ने पूछा।

"शायद बुक स्टाल पर गए हैं।"

"क्या तुम लोग उसके लिए किताब नहीं ला सकते थे ? एक तो घर से जल्दी निकलने नहीं दिया, अब किताब ढूंढ़ने चले हैं'''अजय, जाओ तो, अपनी दीदी को बुक स्टाल दिखा लाओ।"

अजय शायद उनकी बात नहीं टालता, पर मेरा ही मन नहीं हुआ। अगर उन्हें उत्सुकता नहीं है तो मेरी ही क्या अटकी पड़ी है ! दूसरे ही क्षण सोचा---शायद मेरे लिए यह संकेत हो ! पर इस ऊहापोह में ही ट्रेन ने हार्न दे दिया। (उस भयानक आवाज को सीटी कैसे कहूं !) वह भागते हुए आए। मम्मी-डैडी के पैर छुए, शैल दा से गले मिले, दिलीप-दीनू की पीठ थपथपाई, अजय से हाथ मिलाया और चलती ट्रेन में चढ़ गए।

उनके लिए मैं जैसे वहां थी ही नहीं !

कोई चौथा पत्र फाड़कर मैं फिर हाथ-पर-हाथ धरे बैठी हुई थी। मन में हजार बातें थी, पर कागज पर आते ही सब कुछ अर्थहीन हुआ जा रहा था। कोई लिखे भी तो कैसे, और किसे लिखे ! अभी दस दिन पहले तक जिसका नाम-भर सुना था, वही व्यक्ति, सप्ताह-भर में कितना अपना हो गया था। जैसे युग-युगों की पहचान हो। और फिर वही आज शाम प्लेट-फार्म पर कितना अजनबी बन गया !

अजीब असमंजस था।

"ए दीदी," सुधि ने मुझे चौंका दिया, "सो जाओ अब। सुबह जरा तरोताजा होकर लिखना। इस स्पीड से कागज फाड़ती रही तो नेपा मिल्स को स्पेशल टेण्डर भेजना पड़ेगा !"

"तुम क्या अब तक जाग रही हो ?"

"तुम्हारी खटर-पटर सोने दे तब न !"

चुपचाप कागज-कलम समेटकर अपने बिस्तर पर जाकर लेट रही। छि: क्या घर है ! अपना कहने को एक कमरा भी नहीं कि कोई आजादी

के साथ लिख-पढ़ सके। अच्छा हुआ जो यह बात सुधि के कानों तक नही पहुंची। नही तो फौरन कहती—"थोड़े दिन और सब्र कर लो रानी जी, फिर कमरा तो क्या, पूरा सूट आपके नाम होगा! और मद्रास में तो पूरा-का-पूरा फ्लैट···"

वह दुष्ट अब भी चुप थोड़े ही थी। कह रही थी—"यह खराब बात है, दीदी! भला आप उन्हे खत क्यों लिखेंगी? पहले वहां से आने दीजिए, भई कायदा तो यही कहता है!"

वह और भी कुछ-कुछ बकती रही। पर मैं नींद का स्वांग भरे चुपचाप लेटी रही। पता नही क्यों, आज उसकी छेड़खानी अच्छी नहीं लग रही थी।

पाच-छह दिन उत्सुक प्रतीक्षा मे बीत गए। कालेज से जब भी लौटती सबकी नजर बचाकर पहले लेटर बाक्स खोलकर देखती। फिर भी दोनों शैतान मेरी चोरी पकड ही लेते।

अजय चिढाता, "श्रीमान जी को ठिकाने पर पहुंचने तो दो पहले!"

सुधि कहती, "समुद्री यात्रा में हर पडाव पर डाक की सुविधा होती है। दीपक जी चाहें तो हर स्टेशन से एक लेटर पोस्ट कर सकते हैं!"

अजय कहता, "बेचारों के पास अपना पता भी तो नहीं है, क्या मम्मी जी के केयर आफ भेजेंगे?"

जानती थी वे लोग मेरी खिचाई कर रहे हैं। फिर भी एक बार बेवकूफों की तरह मैंने सान्त्वना के घर से वहा फोन लगाया भी। उधर से डैडी की धीर-गम्भीर आवाज सुनते ही सकपकाकर रिसीव्हर रख दिया। 'रांग नम्बर' कहने-भर का भी साहस नही रहा। बाद मे पछतावा भी हुआ। दिनेश को फोन पर बुलाकर उनका पता ही पूछ लेती। इतने दिन उनके साथ घूमती रही। पर उन स्वर्गीय क्षणों में पता पूछने जैसी साधारण बात का ध्यान ही न आया!

उन्ही दिनों कालेज ने राजस्थान का आठ दिन का एक टूर आयोजित किया। कालेज का टूर तो हर साल जाता था। पर मा कभी अनुमति नहीं

देती थी। केरवा डैम भी जाना होता था तो उन्हें दस बार मनाना पड़ता था। इस बार मुझे कोई उत्सुकता भी नही थी।

पर इस बार मा अचानक उदार हो उठी। बड़े ही तरल स्वर मे बोली, "हो आना। घूमने-फिरने के यही तो दिन होते है। एक बार गृहस्थी मे घिर जाएगी तो यह सुख पराया हो जाएगा।"

एक तरह से ठेल-ठालकर ही उन्होने मुझे टूर पर भेजा। मां की अस्वीकृति का ठोस बहाना निरस्त हो जाने के बाद फिर तो सहेलियों ने भी पीछा नही छोड़ा।

सुधि ने बार-बार आश्वस्त किया कि पत्र आएगा, (या आएंगे) तो वह सम्हालकर रखेगी और ईमानदारी से मुझे सौंप देगी।

सारे आश्वासनो के बावजूद मन पूरे वक्त उधर ही लगा रहा। सबका मजा किरकिरा करने के लिए सखियो ने जब कोसना शुरू किया, तब किसी तरह मैं अपने को समझा-बुझाकर उनमे लौट सकी। फिर दर्शनीय स्थलो को देखते हुए मेरा मन चोरी-चोरी हनीमून का कार्यक्रम बनाता रहा। खास कर मुझे उदयपुर बहुत ही भाया—जयपुर से भी ज्यादा! पैलेस होटल का एक कमरा मैंने मन-ही-मन बुक भी कर दिया।

सफर का गर्द-गुबार और थकान ओढ़े जब मैं बस से उतरी तब मन दौड़कर आगे पहुच गया था और सुधि से चिरौरी कर रहा था। पर घर में पांव देते ही लगा जैसे भीतर का सन्नाटा मुझे लील लेगा।

अजय शरीफ लड़कों की तरह बाहर आया और मेरा सामान उठा-कर अन्दर ले गया। सुधि किसी आज्ञाकारिणी बहन की तरह उठी और मेरे लिए चाय बना लाई। मा ने पलग पर लेटे-लेटे ही पूछा, 'खाना खाएगी?"

सबका ऐसा निरानन्द भाव देखकर घर लौटने का उत्साह ही जैसे निचुड़ गया। रोज कालेज से भी लौटती तो ढेर-सारी बातें मेरे पास कहने को होनी। इस समय तो पूरा खजाना था। पर वह जैसे पल-भर मे रीत गया।

कपड़े लेकर मैं बाथरूम में घुस गई और देर तक सफर की थकान और गर्द-गुबार धोती रही। बाहर जब निकली तब तन और मन दोनों फूल-से

हलके हो गए थे। गीले बालों को तौलिये में लपेटते हुए मैंने पूछा, "कुछ खाने-वाने को है, पेट में चूहे कबड्डी खेल रहे हैं !"

"बना देती हूं," सुधि ने दबी आवाज में कहा और किचन में जाकर आलू छीलने लगी।

"ए...बात क्या है ?"

"कुछ भी तो नहीं।"

"फिर भी ?"

उत्तर में सुधि मेरे कन्धे पर सिर रखकर फफक पड़ी।

"दीदी, मां ने बताने के लिए मना किया था...बट आई कांट कीप इट एनी मोर !"

"पर हुआ क्या है ?" मैंने कांपती आवाज में पूछा।

"दीदी...दीदी...दीपक जी...नहीं रहे..."

तीन शब्द—केवल तीन शब्द।

लेकिन वे जैसे मेरे सम्पूर्ण अस्तित्व को रौंदते हुए चले गए। मेरी चेतना के सारे तार एकसाथ झनझनाकर बज उठे और बस...इसके बाद सब कुछ एकदम शान्त हो गया।

होश जब आया तब मैं अपने बिस्तर पर लेटी हुई थी। मोहल्ले के डाक्टर सिन्हा मेरी नब्ज पकड़े हुए थे। मां, अजय और पापा (जो शायद दफ्तर से जल्दी लौट आए थे।) पलंग को घेरकर खड़े थे।

मुझे कुछ प्रकृतिस्थ होते देखा तो डाक्टर सिन्हा उठ खड़े हुए।

"नाउ, इट इज आल राइट। बेबी, हैव ए कप आफ मिल्क एंड ट्राय टू स्लीप !" मेरे सिर को प्यार से थपकते हुए उन्होंने कहा और बाहर चले गए। उनके पीछे-पीछे पापा भी।

मां मेरे सिरहाने आकर बैठ गई और उन्होंने मेरा सिर गोद में ले लिया। अजय मेरे लिए बोर्नव्हिटा जाकर ले आया और मां चम्मच से मुझे पिलाने लगी।

"सुधि कहां है ?" कुछ देर बाद मैंने क्षीण स्वर में पूछा। फिर मां

की दृष्टि का अनुसरण किया तो देखा वह अपराधी भाव से दूर खड़ी कातर दृष्टि से मुझे ही निहार रही है।

मैंने इशारे से उसे पास बुलाया। वह दौड़कर मुझसे लिपट गई और आंसुओं का एक सैलाब-सा उमड़ पड़ा।

बाद में उसी ने मुझे विस्तार से सब कुछ बताया था। शैल दा किसी इण्टरव्यू के लिए मद्रास गए हुए थे। दीपक उन्हें लिवाने स्टेशन पहुंचे थे। स्टेशन से घर को आते हुए ही उनकी मोटर साइकिल एक सिटी बस में टकरा गई। शैल दा तो उछलकर दूर जा गिरे, पर दीपक जी तो एकदम पहियों में आ गए।

उनकी छिन्न-विच्छिन्न देह और घायल शैल दा दूसरे दिन विमान से यहां पहुंचे थे। डैडी को तो खबर सुनते ही अटैक हो गया था। अकेले दिलीप ने सारा काम सम्हाला था।

"यहां इतना सब हो गया और तुमने मुझे खबर तक न की?"

"कहां करती?"

"क्यों? कालेज के पास हमारा पूरा प्रोग्राम था। तुमने फोन तो किया होता। मैं उड़कर चली आती।"

"और आकर क्या कर लेतीं?"

"कोई भी क्या कर लेता है! पर जो अपना होता है वह तो दौड़कर आता ही है!"

"हां, जो अपने होते हैं, वे तो आते ही हैं। लेकिन…"

"चुप क्यों हो गईं?"

"दीदी, तुम अपनों में नहीं थीं। बल्कि उस समय तो सबके लिए तुम…बल्कि मां कह रही थीं, तुम्हारा यहां न होना ही ठीक रहा।"

"क्यों?"

"वहां जो कुछ भी कहा-सुना जा रहा था, वह तुम सह नहीं पातीं!"

"कौन कह रहा था?"

"लोग कह रहे थे।"

"क्या कह रहे थे लोग ?"

"हिन्दुस्तानी लोग ऐसे मौको पर कैसी बातें करते हैं, पता तो है। सारा दोष तुम्हारे मत्थे मढ रहे थे।"

"मतलब, मुझे अपशकुनी कह रहे थे ?"

सुधि चुप हो गई।

अभी कुछ दिन पहले तक मेरा पैर उस घर के लिए बहुत शुभ था और आज—आज मैं अपशकुनी करार दे दी गई।

घटनाओं पर न तब मेरा वश था, न आज है। पर नियति का भागी मुझे हर बार बनना पड़ा।

जिस दिन मेरा रिश्ता गया था, उस दिन डैडी ने एक महत्त्वपूर्ण मुकदमा जीता था। जिस दिन वे लोग मुझे देखने आए थे, दिलीप का पी० जी० के लिए सिलेक्शन हो गया था। सगाई वाले दिन ही शैल दा का रिजल्ट आया था और वह बैंक मे प्रोबेशनरी अफसर बन गए थे।

सबका मुह मीठा कराते हुए डैडी ने कहा था, "शैल है तो मेरी बहन का लडका, पर बचपन से इसी घर में रहकर मेरे बच्चों के साथ ही पला-बढा है। एक तरह से घर का ही लड़का है। बहू के भाग्य से आज उसकी भी मेहनत सफल हो गई।"

ऐसी सुलक्षणी बहू थी मैं—और आज एकदम अपशकुनी हो गई !

सुधि ने बताया कि औरतें इतने कठोर शब्दों मे मेरी भर्त्सना कर रही थीं कि मां का कलेजा छलनी हो गया। दुबारा वहां जाने की हिम्मत नहीं पड़ी।

और फिर जरूरत ही क्या थी ! रिश्ता जो था वह अपने-आप ही टूट गया था।

कितनी आसानी से सबने इस कटु सत्य को स्वीकार कर लिया था।

काश ! मैं भी उतनी आसानी से सब कुछ भूल पाती ! मन के कागज को फिर से कोरा कर लेती !

☐

दीवाली आई और चली गई।

एक दीपक के बुझते ही सारे दीप मेरे लिए अर्थहीन हो उठे थे। हां—घर का वातावरण धीरे-धीरे सामान्य हो चला था। मिलने-जुलने वाले पहले की तरह आने लगे थे। इस दुर्घटना की चर्चा भी अब पहले की तरह फुसफुसाकर नही होती थी। बल्कि कुछ लोग तो मां-पापा को बधाई-सी देने लगते, "चलिए, ईश्वर को यही मंजूर था तो यही सही ! आप तो इस बात की खैर मनाइए कि भला-बुरा जो भी होना था, शादी से पहले ही हो गया। नही तो लडकी की जिन्दगी तबाह हो जाती !"

(जैसे तबाह होने में अब भी कोई कसर बाकी थी !)

मुझे उन लोगों की बुद्धि पर तरस आता। हर बात का बस व्यावहारिक पक्ष ही देखेंगे। भावनाओं का तो इनके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नही है।

मां भी तो कभी-कभी कैसी अजीब बातें करने लगती ! उन दिनो मैंने कालेज जाना छोड़ दिया था। दोपहर मे पूरे घर मे मैं और मा — बस दोनो ही होते। तब मां से कैसा तो डर-सा लगने लगता।

एक दिन पूछा, "निधि ! तुम लोग कहा-कहा घूमने जाते थे ?"

(हम लोग कहा-कहां नही गए थे, मां। सातों आसमान की सैर कर आए थे हम लोग !)

"तुम्हें बहुत-सारे लोग देखते होगे न !"

(शायद ! यहा होश ही किसे था ?)

"यह सब क्यों पूछ रही हो, मां ?"

"डर लगता है रे ! कल को कही बात चले तो इन्ही बातो का बतंगड न बन जाए ? अपशकुन का एक ठप्पा वैसे ही लग चुका है।"

"तुम···तुम क्या दुबारा मेरी शादी के लिए सोच रही हो, मां !"

"दुबारा से क्या मतलब ! शादी तो पहली बार ही होगी !"

(सच तो है। शादी तो पहली बार ही होगी। और मेरे साथ जो घट गया, वह क्या था ! केवल एक दु:स्वप्न !)

"निधि !" मां एक दिन पास आकर बैठ गई।

"निधि, एक बात पूछनी थी रे !"

"कौन-सी, मां !

"तुन लोग···मेरा मतलब है तुम और दीपक···" और मा चुप हो गई।

"पूरी बात कहो न मां ! मैं और दीपक···"

"मेरा मतलब है, तुम लोग ··किस सीमा तक बढ गए थे ?"

मैंने मां की ओर देखा। प्रश्न पूछकर जैसे वह खुद ही संकोच से गड़ गई थी। उसी समय पोस्टमैन ने आवाज दी और वह जैसे जान छुड़ाकर भाग खडी हुई।

मा के प्रश्न का क्या उत्तर था मेरे पास! कैसे कहती कि मा, सीमाए तो सारी कब की टूट चुकी थी। वहा तो प्रणय का सार्वभौम साम्राज्य स्थापित हो चुका था।

मां के भयाकुल मन को भली भांति पढ सकती थी मैं। हम लोगो के उस स्वच्छन्द विचरण का उन्होने शुरू से विरोध किया था। पर पापा ने ही उन्हें डपट दिया था। बोले थे, "इस तरह मना करना उन लोगों पर अविश्वास करने जैसा होगा। आखिर उसके भी मां-बाप हैं !"

"पर वे लड़के के मा-बाप है !"

"उससे क्या फर्क पड़ता है। सगाई के बाद अब तो निधि भी एक तरह से उनकी ही हो गई है। अब जिम्मेदारी सिर्फ हमारी ही नही, उनकी भी है।"

पर मां का मन फिर भी आशंकित ही रहा। पहले दिन हमारे साथ सुधि को भेजा गया था। दूसरे दिन उसने साफ मना किया तो किसी तरह अजय को तैयार किया गया। लेकिन पापा ने ही एक अध्यादेश जारी कर उस सारी व्यवस्था को निरस्त कर दिया। बोले, "लड़का दो साल विदेश रहकर आया है। यहा भी खुले वातावरण में पला है। तुम्हारी दकियानूसी से बिफर गया तो सारे किए-कराए पर पानी फिर जाएगा !"

उस दिन हम लोग अकेले ही गए थे। घूमघामकर लौटे तो रात के ग्यारह बज रहे थे। तब पापा ने बड़े प्यार से दीपक को समझाया था, "देखो बेटे, शहर का माहौल कुछ ठीक नही है। तुम लोग देर तक बाहर रहते हो तो निधि की मां को टेन्शन हो जाता है। यू नो शी इज व्हेरी

नर्व्हस वाय नेचर।"

मुझे लेकर मा उन दिनों तनाव में ही जी रही थी। अब इस हादसे के बाद वह फिर तनाव से घिर गई थी। कई काल्पनिक भय उन्हें घेरकर बैठ गए थे। दिन-भर वह मेरे इर्द-गिर्द मंडराती रहती। कुरेद-कुरेदकर ऊट-पटांग प्रश्न पूछती रहती। उनकी ममता एक सम्भाव्य खतरे से आतंकित थी—इसीलिए छटपटा रही थी।

मा का वह भय निर्मूल नहीं था।

बहुत जल्दी ही इसका पता लग गया और पल-भर को जैसे मेरी चेतना ही लुप्त हो गई।

फिर बहुत साहस करके मैंने यह कुसम्वाद सुधि की मारफत मा तक पहुंचाया। मुझे लगा था मा सुनते ही बेहोश हो जाएंगी या चीख-पुकार मचाकर सारा घर सिर पर उठा लेंगी। मुझे कोसेंगी, अपनी किस्मत को रोएंगी—और भी जाने क्या-क्या !

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ।

घर का वातावरण वैसा ही शान्त बना रहा, एक बुलबुला भी नहीं फूटा और मैंने स्वस्ति की सास ली। इसका अर्थ था, मा ने इस आघात के लिए अपने-आप को तैयार कर लिया था।

चौबीस घण्टे शान्ति से निकल गए। दूसरे दिन सुबह मां ने सहज स्वर में कहा, "निधि ! सूटकेस तैयार कर लिया ? साढ़े बारह की गाड़ी है !"

"कौन-सी गाड़ी ?"

"पठानकोट एक्सप्रेस, हम लोग नासिक जा रहे हैं, प्रभा मौसी के पास।"

"क्यों ?"

"अब इस क्यों का भी कोई जवाब है ?" मा ने खीजकर कहा। फिर दूसरे ही क्षण बोलीं, "एक बार प्रभा मौसी को ठीक से दिखा लेते हैं। यदि ऐसा-वैसा कुछ हुआ तो वहीं रफा-दफा कर देंगे। किसी को कानोंकान खबर नहीं होगी। घर के डाक्टर का यही तो फायदा है।"

मुझे लगा, किसी ने दहकती सलाखो से मेरी कोख दाग दी हो जैसे !

"मां !" मैंने कांपती आवाज में कहा, "मुझे कही नही जाना है…" और मैं एकदम पलटकर कमरे से बाहर निकल आई।

मा पहले तो फटी-फटी आखों से मुझे देखती रह गई। फिर उन्होंने दौड़कर मेरा रास्ता रोक लिया और पूछा, "नही जाना है, मतलब !"

"मतलब क्या होगा ? बस नही जाना है !"

"तो यह कहो न कि यही बैठकर सबके मुह पर कालिख पोतनी है !"

यह कहते हुए मा का चेहरा इतना विकृत हो गया कि पल-भर को लगा, वह मा हैं ही नही। दूमरी ही कोई औरत है। पर तुरन्त ही उन्होंने अपने आवेश पर काबू पा लिया और पूर्ववत दुलराते हुए कहा, "जिद नही करते, बेटा ! अभी ज्यादा देर नही हुई है। सब आसानी से सुलझ जाएगा। ऐसा न हो कि एक गलती सारी जिन्दगी को नासूर बना दे !"

"मैंने कोई गलती नही की है, मा !" मैंने तैश में आकर कहा, "जो कुछ हुआ उसमें मेरा दोष कितना था ? फिर यह किस अपराध की सजा मुझे दी जा रही है ?"

"दोष तुम्हारा नही था, बेटे ! तुम्हारी उम्र का था। तुमने कोई गलती नही की। कसूरवार तो हम लोग है, जो इतनी छूट दिए रहे ! ऋषि-मुनियों के मन भी ऐसे में वश मे नही रहते, फिर तुम लोग तो निरे बच्चे थे !"

"नही मां, दोष उम्र का नही है। एकान्त का भी नही है। मेरे संस्कार इतने खोखले नही हैं। पर सामने वाला व्यक्ति मेरा वाग्दत्त पति था। और उसने…"

"और उसने ?" मां ने अधीर होकर पूछा।

"उसने अपने प्रेम का प्रमाण मागा था !"

मां हतबुद्धि होकर देखती रह गई।

"मैंने कोई व्यभिचार नही किया है, मां ! सम्पूर्ण मन से अपने देवता के आगे समर्पण किया था। और अब अगर उस प्रणय-निवेदन का उत्तर साकार होकर मेरे भीतर उपजा है तो वह भी मुझे स्वीकार है। मैं उसे प्रसाद समझकर ग्रहण करूंगी ! किसी को उसके साथ खिलवाड़ नही करने दूगी !"

नासिक के टिकट लौटा दिए गए थे।

पर मैं जानती थी कि यही अन्त नहीं था। बल्कि यह तो शुरुआत थी। एक अनहोने संघर्ष का श्रीगणेश था।

मां एकदम चुप हो गई थी। पता नहीं चल रहा था कि वह मुझसे तटस्थ हैं या रुष्ट हैं। सुधि मुझसे कटने लगी थी और मैं पापा से कतराने लगी थी, इतना सब हो जाने के बाद उनके सामने निकलना दूभर लगता था। अपने ही घर मे, अपने ही आत्मीय स्वजनों के बीच मैं अकेली पड गई थी।

इस एकान्तवास से घबराकर मैंने एक दिन अचानक सान्त्वना के घर की राह ली। जैसा कि मेरा अनुमान था, वह घर पर नहीं थी। उतनी बड़ी कोठी मे आण्टी अकेली थी। मुझे देखते ही उनके चेहरे पर विस्मय और करुणा के भाव तैर गए।

"आण्टी, जरा फोन करूंगी," मैंने कहा और उनकी स्वीकृति की प्रतीक्षा किए बिना अंकल की स्टडी मे चली गई। जब मैंने कमरे का दरवाजा धीरे से बन्द किया तब भी वह उसी विस्मित मुद्रा में मुझे देख रही थी।

डायल करते हुए मेरे हाथ कांप रहे थे। बहुत हिम्मत जुटाकर आई थी। पर जैसे ही उधर से 'हलो' की आवाज़ आई, मेरी जीभ तालू से चिपक गई। घबराहट में यह भान न रहा कि यह वही आवाज है, जिसकी तलाश मे यहां तक आई हूं।

"हलो," उधर से दुबारा आवाज आई, "मिसेज प्रसाद स्पीकिंग।"

और मैंने अपनी सारी शक्ति बटोरकर कह डाला, "मम्मी जी, मैं निधि बोल रही हूं..."

अब सन्नाटा छलांग लगाकर उस ओर पहुंच गया। रिसीवर से कान लगाए जैसे मैं अपनी ही धड़कन गिनती रही। बड़ी देर बाद उधर से थकी-

सी, वुझी-सी आवाज आई, "कहो !"

उस स्वर मे कोई आग्रह नही था, निमन्त्रण नहीं था। वल्कि एक वेजारी-सी थी। पर मेरा नाम सुनने के बाद भी वह रिसीवर लिए खड़ी रही—मेरे लिए यही वहुत था। अपनी सारी व्यग्रता, आकुलता स्वर में उडेलकर मैंने कहा, "मम्मी जी, आपसे बहुत जरूरी बात करनी है—अकेले मे। वताइए, कव मिलेंगी, कहां मिलेंगी ?"

वह फिर कुछ देर तक चुप रही। शायद सोच रही हों। मैं न्यायालय में निर्णय की प्रतीक्षा में खड़े अभियुक्त की तरह सांस खींचे रही। अन्तहीन प्रतीक्षा के बाद वह बोलीं। उन्होंने एक पता दिया। दिन और समय निश्चित करके जव मैंने फोन नीचे रखा तव मेरी समूची देह उत्तेजना से कांप रही थी।

वे मेरी विजय के क्षण थे। हवा मे तैरते हुए ही मैं घर लौटी। सुधि वरामदे में वैठी कुछ पढ़ रही थी। पदचाप सुनकर उसने सिर उठाया और फिर पुस्तक में डूब गई। और कोई दिन होता तो मैं दौड़कर उससे लिपट जाती, अपनी कारगुजारी वयान करती। पर हम दोनों के वीच की अन्तरंगता पता नही क्यो एकदम विला गई। मैं भी चुपचाप उसके पास से गुजर गई। अपने कमरे मे वैठकर अपनी खुशी अकेले ही पीती रही, अपने संशय अपने-आप ही बुनती रही।

फोन पर मम्मी जी की थकी-बुझी आवाज से ही परिचय हुआ था। प्रत्यक्ष देखा तो लगा, मूर्तिमन्त करुणा मेरे सामने खड़ी है। मेरी स्मृति मे वसे गरिमामय सम्पन्न व्यक्तित्व की वह छाया-भर रह गई थी। मुझे देखते ही उन्होंने अंक मे भर लिया। लगा, जैसे इस स्नेहिल स्पर्श के लिए जाने कव से तरस गई हूं। मैं उनके कन्धे पर सिर रखे सुवकती रही। और वह मेरे सिर पर, पीठ पर हाथ फेरती रहीं। एक ही दुख मे बिन्धी हुई दो आत्माएं एक-दूसरे को सान्त्वना देती रहीं।

सारा घर सन्नाटे में डूवा हुआ था। मेरे लिए दरवाजा खोलकर मम्मी जी की सखी भी पता नहीं कहां अन्तर्धान हो गई थी। उस नीरव

एकान्त में बस हमारी सिसकियों की आवाज ही गूंज रही थी।

पता नहीं कितनी देर बाद मुझे चेत हुआ। उनसे कुछ हटकर बैठते हुए मैंने कहा, "मम्मी जी, एक जरूरी बात थी। फोन पर बतलाना मुश्किल था इसीलिए..."

"मुझे मालूम है।"

"क्या ?"

"वही जो तुम कहने आई हो !"

"आपको किसने बताया ?"

"तुम्हारी मां ने।"

"मां आपसे मिली थी ?"

"हां। खास तौर से मिलने आई थी। बहुत कुछ सुनाकर गई है।"

"ओह नो !"

"मैं उन्हें दोष नहीं देती, निधि। उनकी जगह मैं होती तो शायद इससे भी ज्यादा वावेला मचाती।...गलती हम लोगों की ही थी। बल्कि मेरी ही थी। जिस विश्वास से उन लोगों ने बिटिया हमें सौंपी थी उस विश्वास की रक्षा न हो सकी।...अब मरने वाले के लिए क्या कहूं ! शायद मेरे ही संस्कारों में कहीं खोट रह गई होगी।"

उनकी वह पश्चात्तापदग्ध वाणी मुझसे और नहीं सुनी गई। उनके मुंह पर हाथ रखकर मैंने कहा, "प्लीज, मम्मी जी ! उनके लिए कुछ मत कहिए ! संस्कार इसमें कहां आते हैं ? क्या मेरी मां ने मुझे कोरा ही गढ़ा था—शायद वह जाना हम लोगों की नियति थी, वह गए !"

"हां, और उसने भी यह थोड़े ही सोचा होगा कि ऐसा कुछ हो जाएगा..." बोलते-बोलते उनका कण्ठ बीच में ही अवरुद्ध हो गया।

पहले कभी उन क्षणों के बारे में सोचती थी तो लज्जा और ग्लानि से भर उठती थी। पर उस दिन वह दारुण समाचार सुना तो होश आने पर सबसे पहले अपने को धन्यवाद दिया। कितना अच्छा हुआ कि मैंने उनकी इच्छा का अनादर नहीं किया। नहीं तो यह शूल मुझे उम्र-भर सालता रहता !

पता नहीं क्या सोचकर मम्मी जी ने मुझे खींचकर गले से लगा

लिया। शायद अपने दिवंगत पुत्र की ओर से कृतज्ञता व्यक्त कर रही थी।

"मम्मी जी," उनकी भावनाओं का दामन थामकर मैंने कहा, "मैं आपके दीपक का अंश लेकर आपके पास आई हूं। किसी तरह इसे बचा लीजिए। एक बार वह धरती पर आ जाए, फिर तो मैं सौ तूफानों का सामना कर लूंगी। लेकिन तब तक कोई मुझे चैन से जीने नहीं देगा; सब उसके पीछे हाथ धोकर पड़े हैं!"

"जिन्दगी बहुत बड़ी है, बेटे! सिर्फ भावनाओं के सहारे उसे जिया नहीं जा सकता। तुम्हारे मां-बाप ठीक ही कहते हैं।"

"जीने का अवलम्ब पास मे हो तो आदमी कैसे भी जी लेता है। मम्मी जी, बहुत आशा से आपके पास आई थी। पर लगता है मेरा रास्ता अब मुझे ही खोजना होगा। आप भी उस खेमे में शामिल हो गई है··· खैर!"

और मैं एकदम उठकर चल दी। मम्मी जी क्षीण स्वरों मे पुकारती ही रह गईं, पर मैंने पीछे मुड़कर देखा भी नहीं।

घोर हताशा लिए ही मैंने घर मे प्रवेश किया। दरवाजे मे ही सुधि से सामना हो गया।

"कहां गई थी?" उसने रूखे स्वर में पूछा। मैंने जवाब नहीं दिया, तो वह मेरे पीछे-पीछे कमरे मे चली आई।

"सान्त्वना के यहां तो नहीं थी तुम! मैं देख आई थी।"

"जब मैं वहां गई ही नहीं, तो होती कैसे? तुम्हारा जाना बेकार था।"

"कम-से-कम बताकर तो जाया करो। हमें बेवकूफों की तरह इधर-उधर दौड़ाया जाता है। मोहल्ले मे एक तमाशा-सा हो जाता है," उसने कसैले स्वर मे कहा।

"लेकिन जरा-सी देर में इतनी भागदौड़ करने की जरूरत ही क्या थी!"

"मां से पूछो···उन्हें तो···उन्हें तो जरा-सी देर मे कुएं-बावड़ी का शक होने लगता है!"

मैं एकदम मां के सामने जाकर खड़ी हो गई। इच्छा हुई पूछूं—मां!

तुम सचमुच घबरा गई थी क्या ? क्या तुम सचमुच मेरे लिए मम्मी जी से लड़ आई थी ?

"मा ने एक बार नजर-भर कर मुझे देख लिया और फिर अपने काम में जुट गईं। उनका चेहरा वैसा ही कठोर, सपाट बना रहा।

मैं नितान्त असहाय, अकेली बनी उन्हें देखती रही।

"दीदी, कोई आया है," सुधि ने आकर बताया।

"कौन है ?"

"अब आप ही जाकर देख लीजिए न !" उसने बेजारी से कहा तो उठना ही पडा। परदे की आड से झाककर देखा तो दिलीप थे। कभी दिलीप का नाम लेते ही सुधि के गाल सुर्ख गुलाब हो उठते थे। सगाई के दिन अपने-पराये सभी ने पापा से कहा, "अब सुधि के लिए और कहां भटकेंगे आप ! एक ही मडप में, एक ही घर मे दोनो को ब्याह दीजिए !"

योजना बुरी नही थी, पर बाद मे दीपक ने ही एक दिन बताया था कि दिलीप अपनी एक सहपाठिनी से वचनबद्ध है। अभी घर पर बताया नही है। ठीक समय की प्रतीक्षा कर रहा है। तब से बात आई- गई हो गई थी। उसके बाद तो खैर···

दिलीप मेज पर रखी पत्रिकाए उलट-पुलट कर रहे थे। मेरी आहट पाते ही चौंके, खड़े होकर नमस्ते-सी की और फिर बैठ गए।

एक लम्बा मौन हम दोनों के बीच पसर गया।

वड़ी देर बाद उन्हें स्वर मिला, "कैसी है ?"

"अच्छी हूं···"

फिर वही चुप्पी। वह बेमतलब कुर्सी पर आसन बदलते रहे। मैं कालीन का डिजाइन देखती रही।

उन्होने ही फिर साहस किया, "एक जरूरी बात करनी थी। क्या कही—थोड़ी-सी प्रायवेसी मिल सकेगी ? मेरा मतलब है···"

"छत पर चलिए," मैंने कहा और एकदम उठकर चल दी। परदे से

झाकती आंखों का और दीवार से लगे कानो का उनकी तरह मुझे भी एह-सास हो गया था।

छत पर एकदम एकान्त था। गुनगुनी धूप थी। एक छोटी-सी खटिया पड़ी थी, जिस पर लेटकर मां कभी-कभी धूप सेंक लिया करती थी। उनके लिए वह खटिया बिछाकर मैं मुंडेर पर बैठ गई।

"कहिए···" मैंने कहा। पता नहीं क्यों, छत पर आते ही मेरा सारा संकोच तिरोहित हो गया था। अब तो बल्कि दिलीप जी अपने असमंजस से उबरने का प्रयास कर रहे थे।

मेरी प्रश्नार्थक दृष्टि की चुभन को वह अधिक देर तक सहन नहीं कर पाए। वेवजह गला साफ करते हुए बोले, "समझ में नही आ रहा बात कहां से शुरू करूं!"

"आप तो निस्संकोच कह डालिए" मैंने आश्वस्त करते हुए कहा।

"आप तो जानती है मैं डाक्टर हूं," उन्होंने कहना प्रारम्भ किया, "इस तरह के केसेज तो रोज ही देखने-सुनने मे आते है। पर जब अपना कोई इनव्हाल्व्ड होता है···"

"आभारी हू कि आपने हमे अपना समझा!"

मेरी इस बात से वह एकदम अप्रतिभ हो उठे। फिर दूसरे ही क्षण एक दम तनकर बैठ गए। सोच लिया होगा कि इस तरह की ढीली-ढाली मुद्रा से अब काम नही चलेगा। जैसे मुझे जताते हुए-से बोले, "देखिए, आज यहा मैं सिर्फ डाक्टर की हैसियत से आया हू। सुना था आप परेशानी मे हैं, इसीलिए बताने आया था कि एक-दो नर्सिग होम्स मेरी जानकारी में है। वहा फीस भी माकूल लगेगी और प्रायवेसी का भी पूरा ध्यान रखा जाएगा आप लोग पसन्द करेंगे तो मैं खुद आपके साथ चला चलूगा।"

"क्या आप अपनी मा के दूत बनकर आए हैं?" मैंने पूछा।

"जी नही, मैं सिर्फ अपनी जिम्मेदारी पर ही यहा आया हू।"

"तो फिर मेरी बात सुन लीजिए! न मैं किसी परेशानी में हू, न मुझे उससे छुटकारा पाने की व्यग्रता है!" वह कुछ कहने को हुए तो मैंने इशारे से उन्हें चुप करते हुए कहा, "देखिए, आप एक डाक्टर हैं। इसलिए मनुष्य के शरीर को भीतर-बाहर से जान लेते हैं। पर उससे भी अन्दर होता है

एक मन। उसकी थाह आप लोगों को कभी नही मिल सकती'''आप नही जानते कि औरत किस्तों में प्यार नही करती। अपने को जब भी देती है—सम्पूर्ण रूप से देती है। मैंने भी केवल तन नही दिया, मन भी दिया है। मैंने कोई पाप नही किया, व्यभिचार नही किया, केवल प्यार किया है। उसके परिणाम को सहने की क्षमता मुझमें है। तुम्हारे स्वर्गवासी भाई का उपहार समझकर ही मैंने उसे स्वीकार किया है !"

मेरे इस लम्बे वाक्य के बाद दिलीप कुछ क्षण चुप रहे फिर बोले, "निधि जी, डायलाग तो आपने बहुत अच्छे दिए हैं। किसी नाटक या उपन्यास में बहुत अच्छी तरह फिट हो सकते हैं ! पर जिन्दगी नाटक या उपन्यास नही है, एक कड़ई सच्चाई है। आप जानती है, आपकी इस भावुकता को, जिद को सच्चाई का जामा पहनाने के लिए एक निरीह प्राणी की बलि दी जा रही है !"

"किसकी ? आपकी !"

"नही, इतनी बडी बात मुझसे कहने की जुर्रत मम्मी नही कर सकती। उन्होने तो वही तीर फेंका है, जहा से वह जानती थी कि बूमरंग की तरह लौटकर नही आएगा।"

"मतलब ?"

"मतलब ! उन्होंने शैल दा से अनुरोध किया है कि वह आपके होने वाले बच्चे को अपना नाम दें'''"

"हाय ! मम्मी जी ने मेरे लिए इतनी'''"

"आप तो जानती हैं इस हादसे से मम्मी थोड़ा सन्तुलन खो बैठी है। आपकी इस खबर से उनका रहा-सहा विवेक भी जाता रहा है। अब तो उन्हे दीपक के बच्चे का मुह देखने की धुन सवार हो गई है।'''आप दोनो मिलकर एक गरीब आदमी की जिन्दगी तबाह करने पर तुली हुई है !"

"तो आप इतना परेशान क्यों हो रहे है ? शैल दा मना भी तो कर सकते हैं !"

"यही तो मुसीबत है ! वह मना नही कर सकते। मम्मी के अहसानो से इतना दबे हुए है कि कभी उनके सामने सिर उठाकर कुछ कहने का साहस उनमें नही है। मम्मी यह बात अच्छी तरह जानती है कि एक बार

मैं या दिनेश उनकी बात टाल सकते हैं, पर शैल दा यह हिमाकत कभी नहीं करेंगे।...फिर उनके मन में यह अपराध-बोध भी है कि उस दिन उनकी आंखों के सामने ही मौत झपट्टा मारकर मैया को ले गई और वह कुछ नहीं कर सके!"

"क्या कोई कुछ कर सकता है?"

"ठीक कह रही हैं आप! लेकिन जहां सभी लोग तर्क और विवेक को ताक पर धरे बैठे हों...वहां बात करना ही व्यर्थ है।"

"उनके घर पर और लोग भी तो होंगे। वे मान जाएंगे?"

"घर पर कौन है?...मेरी बुआ-भर हैं। दो बहनें हैं, जिनकी शादी होनी है। चालीस हजार की तुच्छ रकम के सहारे उनके मन को मोड़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्हें केवल आपके अपशकुनी होने का डर था, मम्मी ने उन्हें समझा दिया कि शैल दा के लिए तो आप हमेशा ही शुभ रही हैं। सगाई के दिन ही उनका रिजल्ट निकला था। इतने बड़े एक्सीडेंट के बाद भी उनका बच निकलना, इसी बात की ओर संकेत करता है।"

"और वह मान गई?"

"हां...वह मान गई हैं!"

दिलीप के जाने के बाद भी बड़ी देर तक मैं छत पर बैठी आसमान को ताकती रही। मन में इतना कुछ उथल-पुथल हो रहा था। शैल दा के साथ विवाह की बात सुनकर एकबारगी मैं पत्थर हो गई थी। पर उस प्रस्ताव के पीछे झांकती मम्मी जी की व्यग्रता के विषय में सोच-सोचकर मन विह्वल होकर उनके चरणों में झुका जा रहा था।

और फिर ये चालीस हजार! कहां से लाएंगे पापा इतने सारे रुपये! जब दीपक का रिश्ता किसी ने सुझाया था तभी पापा ने कानों पर हाथ रख लिए थे। ना बाबा—उतने बड़े घर की सीढ़ी चढ़ने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। तब उन्हीं परिचित ने आश्वस्त किया था कि पैसों का लालच उन लोगों को नहीं है। वे तो केवल अच्छे परिवार की सुन्दर और सुशील कन्या भर चाहते हैं।

उन्होंने गलत नहीं कहा था।] पर विधाता को ही शायद यह मंजूर नहीं था कि सब कुछ इतनी आसानी से निपट जाए तभी तो…

नीचे से मा ने खाने के लिए आवाज दी, तब जाकर मेरी तन्द्रा टूटी। नीचे आकर देखा, सब लोग अपने-अपने ठिकानों पर जा चुके हैं। मेज पर केवल दो ही थालियां लगी हुई थीं। हम दोनों के बीच इन दिनों संवाद हीनता की-सी स्थिति बन गई थी। इसीलिए मा के साथ अकेले खाते हुए बड़ा संकोच हो रहा था।

"मा!"

दो-चार कौर किसी तरह पानी की घूंट के साथ नीचे उतारने के बाद मैंने बात शुरू की।

"मा! चालीस हजार रुपयों में मेरी आत्मा का सौदा तय करने से पहले कम-से-कम मुझे पूछ तो लेते आप लोग!"

मां ने एक बार आख उठाकर मुझे देखा और फिर उसी निर्लिप्त भाव से दाल-चावल मिलाने लगी।

"मा, मैं इस तरह अपनी अस्मिता का गला नहीं घोट सकती। आत्मघात के इससे कई अच्छे तरीके मेरे सामने थे—है!"

"तो मर जाओ न! जीते जी हमें मारने पर क्यों तुली हो?" मा एकदम गरजीं।

मैं हतबुद्धि-सी उन्हें देखती रह गई। उनका चेहरा तमतमाया हुआ था। आखों से आग बरस रही थी। नथुने फूले हुए थे। अपनी स्नेहमयी मा का यह विकराल रूप देखकर मैं तो एकबारगी सहम ही गई। बात क्या करती। उनकी ओर देखने का भी मुझे साहस नहीं रहा।

"यह नहीं करेंगे, वह नहीं करेंगे! आखिर क्या करोगी यह तो बताओ! तुम्हारी इस अनोखी जिद के लिए हम सब कुएं में कूद जाएं या फांसी लगा लें? कभी यह भी तो सोचा होता कि एक बहन और भी है घर में। कल को उसकी भी शादी होनी है। हम कौन-सा मुंह लेकर लड़के वालों के दरवाजे जाएंगे…बताओ तो!"

उस बमबारी को सिर झुकाकर सह लिया मैंने। ठीक तो था। अपनी खुशी के लिए मैं सुधि के जीवन के साथ खिलवाड़ नही कर सकती थी।

क्या इसी कारण सुधि मुझसे इन दिनों इतनी कट गई है !

उसका अहित तो मैं कभी सोच भी नही सकती।

उदर में ढाई मास का गर्भ और मन में परिजनों के प्रति अपार वितृष्णा लेकर मैंने एक सुमुहूर्त में शैल जी (अब शैल दा कैसे कहूं !) का वरण कर लिया। नव परिणीत पति की सन्निकट उपस्थिति से उदासीन मैं निर्लिप्त भाव से बाद के विधि-विधान करती गई, सपाट स्वर में विवाह-मन्त्रों का अनुच्चार करती रही। पर उन मन्त्रों ने मुझे कहीं से भी नही छुआ। मन जैसे पथरा गया था।

लोगों से सुना कि समारोह बड़ा शानदार रहा। इस विवाह मे दोनों पक्षों ने जिस सूझबूझ और समझदारी का परिचय दिया, उसकी भी बहुत प्रशसा हुई। मैंने सारी चर्चा को इतने तटस्थ भाव से सुना जैसे कि वह किसी और के विवाह का प्रसंग हो।

विदा के बाद मुझे सीधे शैल जी के गांव ही ले जाया गया। वहा मामी जी (अब मम्मी जी नही कह सकती न) ने ही मेरा परिछन किया। वह ही मुझे अंक मे भरकर भीतर लिवा ले गईं। औरतो के उस हुजूम में केवल दो चेहरे ही पहचाने-से लग रहे थे—रमा और उमा के। उस बार सगाई के समय ये दोनो मेरे पास ही मडराती रही थी पर इस बार दूर से ही टुकुर-टुकुर ताकती रह गईं। द्वार-छिकाई की भी बस एक रस्म-भर हुई। न हंसी, न ठट्ठा, न मान, न मनुहार। उमंग तो मेरे मन मे भी नहीं थी, पर इतने ठण्डे स्वागत की अपेक्षा भी नहीं थी।

मामा के द्वार मण्डप नही डलता, इसी से शायद शादी गांव से की गई थी। सारे कुलाचार सम्पन्न होते ही हम लोग दूसरे दिन मामा जी लोगों के साथ शहर आ गए। मुझे अपने कमरे मे पहुंचाते हुए मामी जी ने कहा, "निधि, इब्राहीम से कह देती हूं गाड़ी अभी गैराज में न रखे। तुम्हें अपने घर से कुछ सामान लाना हो तो ले आओ। मा से भी मिल लेना।

फिर तुम लोगों को कल जाना भी है।"

"कहा जाना है ?"

"गोआ हनीमून पर।" उन्होंने कहा और एकदम मुह फेरकर चली गईं। समझ गई कि हनीमून की कल्पना से वह ज्यादा खुश नहीं हैं।

खुश तो खैर मां भी नहीं हुई। बोली—"इतनी दूर जाने की जरूरत क्या है रे ! मुझे तो बड़ा डर लग रहा है ··"

मैं हंस पड़ी। कहा, "तुम लोग भी अजीब हो मा ! जब सचमुच डरना चाहिए था तब तो निश्चिन्त बने बैठे रहे। और जब मैं अपने ब्याहता पति के साथ जा रही हूं तब तुम्हें चिन्ता हो रही है।"

"वो बात नही है रे ! लेकिन कैसे-कैसे किस्से सुन रही हू आजकल। सोचकर ही दिल कांप उठता है !"

"मां ! तुम लोगों ने बड़ी गलती की।"

"कैसी ?"

"पूरे चालीस के चालीस हजार एक मुश्त थमा दिए। यह ठीक नही रहा। आधी रकम रोक लेनी थी।"

"उससे क्या होता ?"

"उससे मेरी सुरक्षा की गारण्टी तो हो जाती ! अपन वरपक्ष को जता देते कि बाकी रकम दुलहन की हनीमून से सकुशल वापसी के बाद मिलेगी। बस, फिर तुम्हारी चिन्ता अपने-आप दूर हो जाती। वह किसी और के सिर पर सवार हो जाती !"

मा फिर कुछ नहीं बोली। समझ गई कि मैं हर बात का मखौल उडाने पर तुली हुई हूं। मा का इस तरह भयाकुल होना उनके असीम वात्सल्य का द्योतक था। कभी यह मुझे गद्‌गद कर देता था।

पर आज तो मैं एकदम स्थितप्रज्ञ हो गई थी।

"सुनिए !"

आधी रात को मैंने ही मौन के उस घनीभूत कुहरे को भेदने का प्रयास किया।

वह एक लम्बी-सी आराम कुरसी पर अधलेटे-से कुछ पढ़ रहे थे। मेरी पहली आवाज तो उनके कानों तक पहुंची ही नही। दूसरी बार उन्होंने आख उठाकर मेरी ओर देखा।

"मुझे आपसे माफी मांगनी है।"

"किस बात की?"

"मेरी वजह से आपको यह अनचाहा सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ा।"

वह अपनी जगह से उठे। पुस्तक तिपाई पर रखकर वह उस सजे-सवरे पलग के एक किनारे जाकर बैठ गए। (चतुर प्रबन्धकों ने हमारी प्रथम मिलन-यामिनि को खुशगवार बनाने का सुन्दर प्रबन्ध किया हुआ था।)

"निधि!" उन्होने गम्भीर स्वर में कहा, "बोझ अनचाहा हो सकता है। पर इसे मैंने जिसकी वजह से स्वीकार किया, वह तुम नहीं हो। इसीलिए तुम्हें परेशान होने की जरूरत नहीं है।···किसी का कर्ज था मुझपर और उससे उबरने के लिए यह सम्बन्ध जरूरी हो गया। तुम होती या कोई और···कोई फर्क नही पड़ना था।"

धक् से रह गई मैं। पति के रूप मे वह मेरे लिए अर्थहीन थे। पर मैं उनके लिए शर्त की एक धारा मात्र हू, यह मेरी कल्पना से परे था। अपमान से कानो तक लाल हो आई मैं। लगा कि वे सारे फूल, सारी दीपमालाएं मेरा उपहास कर रही हैं।

"निधि!" वह उसी गुरु-गम्भीर स्वर में कहे जा रहे थे, "बहुत-सी बातें कहनी है तुमसे। वहां उतने लोगो के बीच शायद सम्भव नही होता। इसीलिए तुम्हे यहां इतनी दूर ले आया हूं। नही तो तुम जानती हो··· हनीमून का कोई मतलब नही है अब!"

एक और चोट! हे भगवान! क्या मुझे अब इसी तरह किस्तों मे मरना होगा। एकबारगी यह सब कुछ समाप्त क्यों नही हो जाता!

"तुम तो जानती हो, मेरे पिता नही है। उन्हे गुजरे एक अरसा हो गया। वह जब जीवित थे तब भी उन्होने हम लोगों को कोई सुख नहीं दिया। बल्कि दु ख-ही-दु.ख दिया। इतनी बड़ी जमीन-जायदाद के अकेले मालिक थे। लक्ष्मी के साथ आने वाली हर अच्छी-बुरी आदत के वह

शिकार थे। उन्हीं के कारण धीरे-धीरे सारी सम्पत्ति, यहा तक कि मां के जेवर भी महाजन के यहां पहुंचते रहे। उनकी इन्हीं आदतों के कारण घर मे रात-दिन कलह मची रहती थी।

"जिस दिन मैंने पाचवीं पास की थी, वह दिन आज भी मुझे अच्छी तरह याद है। मैं कक्षा में प्रथम आया था। अपना 'प्रोग्रेस बुक' लेकर खुशी-खुशी घर पहुचा था। पर दरवाजे मे पांव देते ही मेरी सारी खुशी हवा हो गई। डर के मारे खून तक जम गया।

"सारा घर ऐसा बिखरा पडा था जैसे भूचाल आ गया हो। पिता साक्षात् काल बने कमरे के बीचों-बीच खड़े वाही-तबाही बक रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने मेरी 'प्रोग्रेस बुक' झपट ली। पल-भर में उसकी चिंदिया हवा मे उड़ रही थी और मैं असहाय बना देख रहा था।

"दूसरे ही क्षण उन्होंने एलान किया कि इसके बाद पढ़ाई खत्म। कोई काम-धन्धा ढूढ़ो और घर चलाओ। मैं बारह साल का नासमझ लडका, उनका यह आदेश सुनकर ही दहल गया। कौन देगा काम मुझे? क्या सचमुच होटल मे जाकर कप-प्लेटें ही धोनी होंगी? या स्टेशन पर बोझा उठाना होगा?

"जिस बात को लेकर इतना हंगामा मचा था, लाचार होकर मां को वह माननी पड़ी। लडकियो के कानो से सोने की बालियां निकालकर अम्मा ने उनके सामने फेंक दी, तब जाकर उनका रोष शान्त हुआ। इस तरह सोने का वह आखरी तार भी शराब की भेंट चढ़ने चला गया।

"उनके बाहर जाते ही अम्मा ने हम तीनों को साथ लिया, बस पकड़ी और मामा जी के दरवाजे आकर खड़ी हो गईं। मुझे जबरदस्ती मामी की गोद मे बिठाकर बोली, 'भौजी! आज से तुम्हारे चार लडके हुए। प्यार से या मार से, जैसे चाहो इसे आदमी बना दो। लड़कियो को तो मैं भूखी-प्यासी रहकर भी पाल लूगी। पर लड़का अगर बिगड़ गया तो मेरा बुढ़ापा भी खराब हो जाएगा।'

"मामा जी ने उन दिनों वकालत शुरु ही की थी। ऐसी खासी आमदनी भी नही थी। पर मामी ने इस अतिरिक्त भार को खुशी-खुशी स्वीकार किया। मुझे मां का-सा प्यार-दुलार दिया। कभी अम्मा की याद

नहीं आने दी। कभी मुझमें और अपने बच्चों में फर्क नहीं किया। बाहर वाले तो जानते ही नहीं कि मैं उनका बेटा नहीं हूं। एक बच्चे के लिए जो स्वस्थ वातावरण चाहिए वह मुझे मिला। इसी से आज जो कुछ हूं, बन सका।

"दीपक की मृत्यु के बाद पता नहीं क्यों मैं उनसे कतराने लगा था। लगता था मैंने उनका अपमान, उनकी ममता का अपमान किया है। उन्होंने मुझे बेटे की तरह प्यार किया। और मैंने उन्हें बेटे की लाश दी। इसी शर्म के मारे मैं अस्पताल से सीधा गांव चला गया था। वहीं वह एक दिन पहुंचीं। मुझे अंक में भरकर देर तक रोती रहीं। फिर अपनी ममता का वास्ता देकर बोली, 'शैल ! बड़ी उलझन में फंस गई हूं रे। क्या मेरी एक बात मानेगा?' मैंने कहा, 'मामी, तुम्हारे मुझ पर इतने उपकार हैं कि प्राण भी मांग लो तो मैं मना नहीं करूंगा।' वह बोली, 'शैल ! मुझे प्राण नहीं, तुम्हारा नाम चाहिए। क्या दीपक के बच्चे को तुम अपना नाम दे सकते हो?' "

पल-भर को कमरे में सन्नाटा-सा छा गया। मेरी सांस तक रुक गई थी। कुछ क्षण बाद मैंने आंख उठाकर देखा, वह एकटक मुझे ही देख रहे थे।

"तो यह मेरी कहानी है।" उन्होंने जैसे उपसंहार किया, "बहुत अच्छी तरह शायद मैं नहीं कह पाया हूं। फिर भी आशा है मेरे अनगढ़ वक्तव्य को तुमने समझ लिया होगा···शादी चाहे तुम पर लादी गई हो या मुझ पर, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अब इस रिश्ते को निभाना ही है।···कम-से-कम कुछ दिनों तक तो यह नाटक करना ही है। अपना 'माड आफ कडक्ट' क्या हो, यही तय करने के लिए तुम्हें इतनी दूर ले आया हूं। तुम जैसा चाहोगी, वैसा ही होगा। पर एक प्रार्थना है—मेरी दुखियारी मां को यह कभी न पता चले कि मैं जानबूझकर ठगा गया हूं। बस इतना ही · "

दो दिन बाद ही हम लोग वहा से लौट आए। मामा जी की विशाल कोठी के एक कमरे से हमने पति-पत्नी के रूप में अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ की। छत पर बना हुआ यह कमरा खास तौर से हमारे लिए सजाया गया था। यह उन तीन कमरों मे से था, जो मामा जी ने अपने बच्चों के लिए बनवाया था। हर कमरे के साथ छोटी-सी बालकनी और टायलेट था। एक कमरा इस समय दिलीप के पास था और दूसरा मेहमानो के लिए था। मामा जी का स्वास्थ्य इन दिनों नाजुक चल रहा था। रात में मामा-मामी को अकेला नही छोड़ा जा सकता था इसलिए दीनू उस्ताद नीचे शिफ्ट कर गए थे।

घर-भर में इस समय सिर्फ दिनेश ही था, जिससे मैं खुल सकी थी। बहुत ही प्यारा लड़का था। बहुत जल्दी उसने इस नये रिश्ते को स्वीकार कर लिया था, और लोगों से तो मुझे डर-सा लगता था।

पति देवता तो सौजन्य की प्रतिमूर्ति थे। पर उनकी यह अतिशय सदाशयता कभी करुणा, तो कभी तिरस्कार उपजाती थी। इससे तो बल्कि लड़ाई-झगड़ा होता रहता तो ठीक रहता!

एक थे दिलीप जी, जो हरदम मुझे खूंख्वार आंखों से घूरते रहते। इस घर मे जो मैंने अनधिकृत प्रवेश पा लिया था उसे वह माफ नही कर पाए थे।

मामा जी ने तो मुझसे एक बार भी बात नही की। उनके लिए घर की निर्जीव वस्तुओं मे जैसे एक और की वृद्धि हो गई थी। उनकी यह उपेक्षा बेहद अपमानजनक थी। पर इस कड़ुए घूट को पिए बिना चारा भी नहीं था।

हां, मामी जी बहुत प्यार करती थी। लगता था, जैसे सबके हिस्से का लाड़-दुलार दे रही हों। शुरू-शुरू में तो अच्छा भी लगता था। पर बाद मे लगने लगा कि प्यार का यह बोझ बहुत भारी है।

वह मुझे पल-भर भी आंखों की ओट नही होने देती थी। एक बार भी उन्होने मुझे गांव में अम्मा जी के पास जाने नही दिया। मुझे कोई खास उत्सुकता भी नहीं थी।

दिनेश ने बताया कि वह तो हमारी व्यवस्था नीचे के कमरे में ही करना चाहती थी, पर दिलीप नहीं माने! बोले, 'यहा दिन-भर आवक-जावक बनी रहती है। पल-भर भी उन लोगो को एकान्त नसीव नही होगा।'

मुझे एकान्त का इतना मोह भी नही था। पर कमरे में चुपचाप लेट-कर छत की ओर ताकना अच्छा लगता था। मामी जी जब-तब ऊपर पहुंच जातीं और झिड़क देतीं, "दिन-भर इस तरह सोया नही करते। जरा चलती-फिरती रहा करो।" जब कभी उनका वी० पी० वढ़ा हुआ होता तब नीचे से ही आवाज दे लेती। उत्तर में, जब मैं दनदनाकर सीढियां उतरने लगती तब फिर डाट पडती, "ओफ्फो! जरा धीरे! कितनी बार कह चुकी हूं।"

ऐसे समय कोई, खास कर दिलीप सामने होते तो मैं शर्म से गड जाती। वह अजीब नजरो से मुझे घूरने लगते जैसे मेरी फजीहत कर रहे हो।

खाने के सम्बन्ध में भी उनकी सौ हिदायतें होती थी। रोज मेरे लिए फरमायशी नाश्ता बनता। कई वार लगता, महाराजिन पता नही क्या सोच रही होगी, पर मामी जी जैसे अपने आपे में नही थी।

नयी-नयी शादी हुई थी। रोज ही कहीं-न-कहीं से निमन्त्रण आता। इस गुमसुम-से व्यक्ति के इतने सारे दोस्त होगे, मैं सोच भी नही सकती थी। दोस्तों के बीच वह जिस तरह खुलते थे, वह तो सचमुच देखने की चीज थी। मुह से चाहे जो कहते रहें, लाख मामा-मामी के लाड़-प्यार का बखान करें, पर उस घर में उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो गया था, यह बात तय थी।

पर उन्हें इस तरह उन्मुक्त देखने के अवसर बहुत कम आते थे। आधे निमन्त्रण तो मामी जी दूर का बहाना करके ही लौटा देती थीं। जाना भी होता तो कार मे जाने के लिए मजबूर करती। उनके फरमान

के बाद अपील की भी कोई गुंजाइश नहीं थी। और अपील करता भी कौन ? इब्राहिम की उपस्थिति में 'ये' कार में बेहद बंधा-बधा महसूस करते। फिर अपने मध्यम वर्गीय दोस्तों पर कार का रौब डालना भी उन्हे अच्छा नही लगता था।

इस दमघोंटू माहौल मे दिनेश ही मेरा सम्बल था, साथी था। जब भी समय मिलता, हम लोग ताश या लूडो खेलते। वह मुझे पत्रिकाएं लाकर देता, कालेज की, दोस्तों की गप्पें सुनाता। घर का उदास वातावरण उसपर भी भारी पड रहा था। इसीलिए शायद उसकी मुझसे पटरी बैठ गई थी।

वह घर पर नही होता तो लगता जैसे घर की रौनक ही चली गई है। मन तब बेहद उदास हो जाता। मामी जी की नजर बचाकर मैं कमरे मे आ जाती और कुरसी पर बैठकर छत का विस्तार देखती रहती। कई बार समय का पता ही नही चलता था। ऐसे में पता नहीं कहां से दिलीप जी प्रकट हो जाते और अपने मन की सारी कड़ुआहट स्वर मे घोलकर कहते, "सूर्यास्त तो रोज होता है, कल देख लीजिएगा। इस समय जरा दादा के चाय-नाश्ते का इन्तजाम कीजिए।"

उनकी यह बात मन पर चाबुक की तरह पड़ती और मैं तिलमिला उठती।

दिनेश दौड़ा-दौड़ा कमरे में आया, "भाभी जी, जल्दी से मिठाई खिलाइए!"

"किस बात की ?"

"दादा की प्रिया आ गई है।"

"वाह दीनू जी, तुम्हारे दादा की प्रिया आएगी तो मैं क्या मिठाई बाटूंगी ? झोटा पकड़ाकर···" कहते-कहते रुक गई मैं। 'ये' पता नही कब दरवाजे मे आकर खड़े हो गए थे। अपनी कही बात याद करके मैं शर्म से लाल हो उठी।

मेरा असमंजस भांपकर इन्होंने सहज स्वर में कहा, "बहुत पहले

नम्बर लगा दिया था। आज हाथ में आई है।"

"कहां है ?" मैंने शिष्टाचार निभाया।

"नीचे खड़ी है···"

मैंने उत्सुकतावश गैलरी से झांककर देखा, ग्रे रंग का नया चमचमाता स्कूटर खड़ा था। नजर हटाई तो देखा, 'ये' मुझे ही देख रहे थे।

"पसन्द आई ?"

"बड़ा प्यारा कलर है।"

"घूमने चलोगी ?"

"चलिए···"

दरबार में अर्जी देनी ही थी। फौरन जवाब-तलब हुआ, "कहां जाना है ?"

"सिनेमा···"

"कौन-सा ?"

"वही—वो जानी दुश्मन। पास की टाकीज में ही लगी है।"

रोज आते-जाते पोस्टर देखते होंगे। तभी तो यही नाम जबान पर आ गया।

"उसमें तो सुनते हैं भूत-प्रेत है; पड़ोस की मनीषा बतला रही थी··· तुम और दीनू देख आओ। वह फिल्म निधि के देखने की नहीं है।"

"तो दूसरी देख लेंगे···" इन्होंने फुसफुसाकर कहा।

"या नहीं भी देखेंगे !" दीनू ने बात आगे बढ़ाई—"यों ही घूम-घामकर लौट आएंगे। पर मम्मी, इन्हें जाने तो दो। स्कूटर के उद्घाटन का सवाल है। मेरी मिठाई मारी जाएगी !"

"उद्घाटन हो तो गया। बैंक से उसी पर तो लौटा है।"

"ओफ्फो मम्मी ! तुम कुछ समझतीं क्यों नहीं !"

"मैं सब समझती हूं, बेटे ! पर आज अमावस के दिन नयी गाड़ी पर मैं नयी-नवेली बहू को नहीं जाने दूंगी। समझे ?"

"तुम इतनी दकियानूसी कब से हो गईं ?"

"होना पड़ता है, कभी-कभी !"

मां-बेटे में ठनती रही। ये कब चुपचाप बाहर चले गए, पता ही नहीं

चला। मैं गुमसुम बैठी टी० वी० देखती रही। मूड बेतरह उखड़ गया था।

आठ बजे गनेसी खाना लगने की सूचना देने आया तो धीरे से मना कर दिया। इच्छा ही नहीं हो रही थी। पर मामी जी खुद उठकर आई, "अरे, वह तो अब पिक्चर देखकर ही लौटेगा, तुम कब तक बैठी रहोगी?"

उनकी बात टाल नहीं सकी, पर कौर बार-बार गले में अटकता रहा। उनका बुझा-बुझा चेहरा याद आता रहा।

रात देर तक पढ़ती रही। दृष्टि बार-बार घड़ी की ओर उठ जाती। पहले सवा नौ, फिर दस, फिर साढ़े दस। हर कांटे के साथ मेरी धड़कन बढ़ती जा रही थी। नयी गाड़ी है, पता नहीं ठीक से हैंडिल कर पाए होंगे कि नहीं। मद्रास वाले एक्सीडेण्ट के बाद से पांव में थोड़ा दर्द रहने लगा है। कई बार एकदम जाम हो जाता है। क्या पता'''और फिर मामी जी ने अमावस की याद दिला दी। अमावस को भला लोहे की चीज खरीदता है कोई!

ग्यारह बजे के बाद मुझसे नहीं रहा गया। उठकर दिलीप के कमरे तक गई। कमरे में घुप्प अंधेरा था। पिछली रात नाइट ड्यूटी थी। इसी से शायद जल्दी सो गए थे।

"भैया जी?"

"कौन है?" उनींदे स्वर में प्रश्न उभरा। क्या उत्तर दूं समझ में नहीं आया। पर उत्तर की प्रतीक्षा उन्होंने नहीं की। डाक्टर होने का यही तो फायदा है। बत्ती जलाकर एकदम सामने आ खड़े हुए।

"आप?"

"जी'''वो बात क्या हुई कि ये अभी तक नहीं लौटे हैं।"

"कहां गए हैं?"

"शायद पिक्चर'''"

"शायद!" उन्होंने व्यंग्य में दुहराया फिर बोले, "तो इसमें परेशानी क्या है? अभी तो सिर्फ ग्यारह बजे हैं!"

"वह फर्स्ट शो में गए थे।"

"तो बैठ गए होंगे कहीं!"

"वो क्या है कि शाम को जरा अपसेट होकर गए हैं," और मैंने उन्हें सारा किस्सा सुना दिया।

"और आप अब इतनी देर बाद मुझे ये सब बता रही हैं? किस बात का इन्तजार कर रही थी!"

उन्होंने कपड़े पहने और खटाखट सीढ़ियां उतर गए। थोड़ी देर बाद स्कूटर स्टार्ट होने की आवाज आ गई। मैं धम्म से वहीं, उनके दरवाजे पर बैठ गई। सच तो है, इतनी देर तक किस चीज का इन्तजार करती रही मैं!

बहुत देर बाद किसी ने कहा, "आपके श्रीमान जी को पार्क से पकड़ लाया हूं। जाइए, उन्हें खाना खिलाइए!"

मैं नीचे उतरी तब तक ये खाना खुद ही ले चुके थे। मैं चुपचाप एक कुरसी खींचकर बैठ गई।

"दिलीप को नाहक परेशान क्यों किया?"

क्या उत्तर देती! कैसे कहती कि इतनी-सी देर में मैं आशंकाओं का कितना बड़ा बियावान झेल चुकी हूं! भयानक सम्भावनाओं ने मेरे मन को इस बीच किस बुरी तरह से मथ डाला है!

कह भी देती तो क्या कोई विश्वास करता? स्वयं मुझे भी तो विश्वास नहीं हो रहा!

इन्हें दस-पन्द्रह दिनों की ट्रेनिंग के लिए जयपुर जाना था। बोले, "यहां अकेले रह लोगी? न हो तो अपने घर हो आओ कुछ दिन। मैं मामी जी से कह दूंगा।"

"अपने घर?"

"मतलब—अपनी मां के यहां।"

"शादी के बाद मां का घर अपना कहां रह जाता है।"

वह चुप हो गए। मैंने ही फिर कहा, "कहीं भी रहूं, मुझे कोई फर्क

नहीं पड़ता। अकेलापन तो अब मेरी आदत बन चुका है।"

इसके बाद कहने को कुछ था ही नही।

पर दूसरे ही दिन मामी जी ने फरमान दागा, "दिलीप ! निधि को शक्तिनगर छोड आना। कुछ दिन अपने भाई-बहनों के साथ रह लेगी।"

दिलीप अस्पताल से लौटकर खाना खा रहे थे। बोले, "भूख इतनी जोर की लगी थी कि आते ही खाने बैठ गया। तुम्हें बताना भूल ही गया।"

"क्या ?"

"बुआ बीमार हैं। किशनगंज से आदमी आया था।"

"तो ?"

"मैं अभी वहीं जा रहा हूं। सोचता हूं, बुआ की बहू को भी साथ ले जाऊं।"

"यह वहां क्या करेगी ?"

"वही जो आम तौर पर बहुएं सास की बीमारी मे करती हैं" और फिर मेरी ओर मुड़कर बोले, "मैं खाना खा रहा हूं तब तक आप तैयार हो लीजिए। हां, दो-चार दिन रहने की तैयारी से जाइएगा।"

मामी ने कुछ कहना चाहा, पर पता नही क्या सोचकर चुप लगा गईं। वैसे भी दिलीप से थोड़ा डरती थी।

मैं नीचे उतरी तब तक वह पोर्च मे पहुंच चुके थे। मोटर साइकल स्टार्ट करते हुए बोले, "बैठिए !"

"तू क्या मोटर साइकल पर लेकर जाएगा इसे ?" मामी जी ने टोका।

"डोंट वरी ममा ! कुछ नही होता। फिर मैं हूं तो साथ मे !"

मामी जी ने शायद कुछ और भी कहा, पर उनकी बात गाड़ी की घर-घराहट में डूब गई। थोड़ी ही देर बाद हम लोग सड़क पर थे।

करीब घण्टा, सवा घंटे के सफर के बाद हम लोग गांव मे थे। ब्याह के बाद सीधे यहीं आए थे। पर अब कुछ भी पहचाना नहीं लग रहा था। जिस घर के सामने हम लोग रुके वह भी तो अनचीन्हा-सा लग रहा था। उस दिन तो तोरण, बन्दनवार, मण्डप, शामियाने और बिजली की असख्य

मालाओ के कारण इसकी छटा ही दूसरी थी।

गाड़ी की आवाज सुनते ही रमा-उमा दौड़कर आई। पीछे-पीछे अम्मा जी भी।

"अरे!" मुझे देखकर उनके मुंह से निकला।

"तुम्हारी बहू को लाया हूं बुआ। अच्छी तरह सेवा करवा लो। दादा चार-आठ दिनो के लिए बाहर गए हैं। इस मौके का लाभ उठा लो!"

"ठहर, इसे अभी यही रोके रखना," कहते हुए अम्मा जी शायद राई-नोन लाने अन्दर चली गई। पीछे-पीछे लड़किया भी।

"इस फरेब की क्या जरूरत थी?" मैंने दबी जबान से मगर सख्त लहजे मे कहा, "मैं वैसे भी चली आती।"

"फरेब आपके लिए नही, मम्मी के लिए किया था। आखिर इस बेचारी का भी तो कुछ हक बनता है!"

कुछ देर बोल-बतियाकर दिलीप वापिस हो लिए। मुझे लगा जैसे सुनसान जंगल मे मुझे अकेला छोड गए हो!

अपनी ससुराल में वह पहला दिन बेहद तनाव में गुजरा। पर धीरे-धीरे पता चल गया कि यह दूरी गलतफहमियो के कारण है। जिसे मैं उपेक्षा समझ रही थी, वह उनका संकोच था। शादी इतने अप्रत्याशित ढंग से हो गई थी कि उन्हें अपनी राय बताने का समय ही न मिला। और उसके बाद मैं मामा जी के यहा ही रही। इसी से कुछ नाराजी भी थी।

पर एक बार अच्छी तरह परिचय हो जाने के बाद कोई व्यवधान न रहा। रमा-उमा तो ऐसे घुल-मिल गई कि लगा जैसे सुधि ही दो रूपों में बंट गई हो। पर सुधि इन दिनो कितनी दूर की चीज लग रही थी।

प्यार तो मामी जी भी बहुत करती थी। पर उनके प्यार मे एक रोब, एक अनुशासन था। अम्मा जी का प्यार एकदम निश्छल-सरल था। उन्होंने मुझे पता नही लगने दिया कि इस शादी के बारे मे उनकी प्रतिक्रिया क्या थी।

दो-चार बार मैंने लक्ष्य किया कि वह गौर से मुझे देख रही हैं। एक-

बार जब उनका यों घूरना पकड़ाई मे आ गया तब भेद-भरे अन्दाज में धीरे से पूछा, "कुछ है ?"

मैंने सिर झुका लिया। शायद इसे उन्होंने नारी-सुलभ लज्जा समझा हो। क्योंकि मैंने कनखियों से देखा कि प्रसन्नता से उनका चेहरा खिल उठा और वह इष्टदेव को बार-बार सिर नवा रही है।

ये ट्रेनिंग से लौटे तो शाम को स्कूटर उठाकर सीधे गाव आ पहुचे। इनके पहुंचते ही घर में जैसे एक हंगामा बरपा हो गया। अम्मा जी बाहर ओसारे मे खड़ी किसी से बतिया रही थी। वह भागी-भागी अन्दर आई और उन्होंने पुरानी बदरंग धोती फेंककर नयी पहन ली। इतनी नयी कि आंखो मे चुभ रही थी। मैं अपनी वही अटैंची लेकर आई थी जो मैंने मां के यहा जाने के लिए पैक की थी। उसमे पड़ी मेरी एक मैक्सी उमा पहने हुए थी। भैया को देखते ही वह हड़बड़ाकर कमरे में घुस गई थी और कपड़े बदलकर ही बाहर निकली। मैं और रमा दोनों मिलकर एक साड़ी काढ़ रही थीं। ऊपर वाले कमरे में वह साडी, अपने पूरे विस्तार मे फैली थी। साथ ही रेशम के लच्छे, सुइयां, कैंची, पेन्सिल और भी न जाने क्या-क्या पड़ा था। फुर्ती के साथ वह सारा कबाड़ समेटा गया और भैया के ऊपर आने से पहले ही कमरा झाड़-पोंछकर चमका दिया गया।

उसके बाद रसोई का भव्य आयोजन प्रारम्भ हुआ। तीनों मा-बेटी उसमे जुट गयी। मुझसे अम्मा जी बार-बार कहती रहीं, "इतने दिन का थका-मांदा आया है। थोड़ी देर उसके पास बैठ ले।" पर मैं उन्हें अनुसना करते हुए वहीं कुछ-न-कुछ करती रही। मेरी इस अवज्ञा का उन्होंने बुरा नही माना, उलटे खुश ही हुई।

रात सोने से पहले इन्होंने कहा, "अम्मा ! सुबह खाना जल्दी ही बना लेना। मेरी छुट्टी नही है।" और फिर कुछ देर रुककर बोले, "इसे भी साथ ही ले जाऊगा।"

"फटफटी पे ले जाएगा ?"

"तो क्या हुआ ! अम्मा, दिल्ली मे तो पूरा परिवार स्कूटर पर घूमता

है, जानती हो।"

"बोर तो नही हो गईं यहां ?" सोने से पहले इन्होंने पूछा।

"नही तो ! मेरा तो खूब मन लग गया है यहां।" वह कुछ देर तक स्नेहार्द्र दृष्टि से मुझे देखते रहे। फिर बोले, "मामी ने बताया कि तुम गांव में हो तो मैं इतना परेशान हो गया कि···फिर दिलीप ने ही बताया कि वह तो लेने भी पहुंचा था, पर तुम्हीं ने मना कर दिया।"

दिलीप इस बीच दो बार आये। पर मेरी उनसे कोई बात नही हुई थी। उन्होंने एक बार बस इतना पूछा था, "आपको किसी चीज की जरूरत तो नहीं ?" और वह भी इतने सपाट स्वर में कि मैंने उत्तर देना जरूरी ही नही समझा था।

तब यू झूठ-मूठ बात बनाकर कहने की क्या जरूरत थी ! अभी अगर इनसे कह दूं कि वह अम्मा जी की बीमारी का बहाना बनाकर मुझे जबरदस्ती यहां ले आए थे तो इनके चेहरे का रंग कैसा हो जाएगा ? ये जो अभी-अभी आंखों में खुशी की दीपावलियां जगमग कर रही है, वे एकाएक बुझ जाएंगी।

दिलीप ने शायद इसी दीपोत्सव के लिए यह बहाना गढ़ा हो। मुझे मालूम है, दिलीप जितनी मुझसे नफरत करते हैं, उतना ही अपने इस निरीह भाई से स्नेह भी।

गांव से लौटने के बाद कितने ही दिन तक मन उन्हीं यादों में खोया रहा। अम्मा जी का निश्छल प्यार, रमा-उमा की चुहलबाजी—और सबसे ज्यादा इनका गृहस्वामी का रूप याद आता रहा। माथा ऊंचा करके चलने से मनुष्य का व्यक्तित्व कितना बदल जाता है। बंगले की चारदीवारी में प्रवेश करते ही उनका वह रूप जाने कहा खो गया। और वह पहले की तरह मन में कभी करुणा और कभी जुगुप्सा जगाने लगे।

"यह आपका पत्र···"

मैं छत पर सूखते कपड़ों को तहा रही थी कि दिलीप ने आकर एक पत्र पकड़ा दिया।

मैंने लिफाफा उलट-पलट करके देखा, अक्षर पहचाने-से नही थे। पता भी मां के घर का था।

"कौन दे गया ?"

"भैया का पत्र है ?"

"भैया..."

"दीपक भैया का। मद्रास भैया का सामान लाने गया था। उसमे मिला है।"

"लेकिन आप तो चण्डीगढ गए थे।"

"हा, मम्मी-पापा को यही बताया है। लेकिन मैं मद्रास गया था। कम्पनी का फ्लैट खाली करना था। सामान फिलहाल मैंने अपने कमरे मे रख दिया है। आप भी मम्मी से जिक्र न कीजिएगा।"

"यह पत्र..."

"यह मेज की दराज मे मिला था। मैं तो इसे वही नष्ट कर डालता। पर फिर सोचा, यह तो मरने वाले के साथ अन्याय होगा। जिसके नाम यह लिखा गया है, उसे ही यह अधिकार है कि अब इसे पढ़े या फाड़कर फेंक दे।"

पत्र को हृदय से लगाए मैं देर तक वही खड़ी रह गई। यह वही पत्र था, जिसकी मुझे इतनी आतुरता से प्रतीक्षा थी। यह मुझे मिलने वाला मेरे जीवन का पहला और शायद अन्तिम प्रेमपत्र था। बेचारे लिख तो गए थे, पर डाक मे डालने से पहले ही अनन्त मे विलीन हो गए।

यह तो कहो कि समय पर दिलीप जी का विवेक जाग गया। नही तो कितना कुछ अनकहा ही रह जाता।

पत्र को बार-बार चूमती हुई मैं भीतर आ गई। कमरे को अच्छी तरह से बन्द करके मैंने कापते हांथो से वह लिफाफा खोला।

बहुत सक्षिप्त-सा पत्र था (अंग्रेजी में)।

"निधि !

(प्रिये, प्रियतमे—कुछ भी नहीं। सिर्फ निधि)

"बहुत दिनों से लिखने की सोच रहा हूं। आज आखिर निश्चय कर ही डाला।

"वैसे आते हुए मैं मम्मी को संकेत दे ही आया था। पर तुम्हें बता देना भी अपना कर्तव्य समझता हूं।

"दो साल पश्चिम में रहकर लौटा हू। वहां का माहौल ही कुछ ऐसा है कि नारी की अनावृत देह मेरे लिए अब अचम्भे की वस्तु नहीं रह गई है।

"पर वहां रहते हुए अपने लिए हमेशा मैंने एक भारतीय वधू की कामना की है। ऐसी लड़की जो संकोच और शील की प्रतिमूर्ति हो, लज्जा जिसका आभूषण हो।

"तुम्हें देखकर लगा था कि मेरा सपना साकार हो गया है। पर तुमने जिस सहजता से अपने-आप को मुझे सौंप दिया था, उससे लगा कि भारत भी अब बहुत प्रगतिशील हो गया है। या कि हो सकता है, तुम्हारे ही संस्कारों मे कहीं खोट हो। बहरहाल, यह विवाह मेरे लिए असम्भव है। क्योकि यह बात बार-बार मेरे मन में आती रहेगी कि क्या सचमुच मैं ही पहला व्यक्ति था !

"तुम सुन्दर हो, स्मार्ट हो, दूसरा पति ढूंढने मे तुम्हें ज्यादा दिक्कत नही होगी, ऐसी आशा है। क्षमा···"

एक-एक अक्षर जहर की द-सा मन मेबू रिसता चला गया और मेरा सारा अस्तित्व पके फोड़े-सा टीस उठा। लगा कि मैं अन्धकार के सागर में डुबकियां खा रही हू। दम घुटा जा रहा है और मृत्यु के पल नजदीक आते जा रहे हैं। लगा कि कोई घन मार-मारकर मेरी गुड़ामुड़ी संवेदना को समतल करने की चेष्टा कर रहा है। लगा कि किसी ने मुझे ऊंचे पर्वत से ढकेल दिया है और अब आवाज लगा रहा है—निधि ! निधि ! निधि···

क्रमशः वह आवाज तेज होती चली गई। घन की चोट भी अब दुहरे

जोर से पड़ रही थी। मैं लगभग सज्ञाशून्य होकर से सारे अत्याचार झेल रही थी।

कि एकाएक मेरी चेतना लौटी। कोई जोर-जोर से दरवाजा पीट रहा था और घबराई-सी आवाज मे मुझे पुकार रहा था।

मैंने उठकर दरवाजा खोल दिया। ये बदहवास-से दरवाजे में खड़े थे।

"क्या करने लग गई थी तुम ! मेरा तो कलेजा मुंह को आ गया था।"

मैंने उनके पसीना-पसीना होते चेहरे को अपलक देखते हुए सपाट स्वर में कहा, "सो गई थी।"

वह कागज का टुकड़ा मेरी उम्र-भर की नीद उड़ाकर ले गया।

मैं मरने वाले को कोस रही थी। जब इतनी दिलेरी से पत्र लिखा दिया था तो पोस्ट करने मे कोताही क्यों कर दी ! समय रहते मुझे मिल जाता। तब इस पाप के भार से मुझे मुक्ति तो मिल जाती। प्रणय का प्रतीक, प्रेम का अंकुर…

मैंने सौ-सौ नामो से अपनी भूल को संवारा था। माता-पिता का भी तब लिहाज नही किया था। वे सारे भावुक सम्बोधन, उदात्त विशेषण आज किन्ही दुर्बल क्षणो की पहचान-भर रह गए हैं।

यह तुमने क्या किया दिलीप ! मुझसे यह कैसा प्रतिशोध लिया ? माना कि तुम मेरा तिरस्कार करते हो। पर अपने भाई से तो तुम प्यार करते थे न ! फिर उसकी प्रतिमा को यों खण्ड-खण्ड क्यो होने दिया ?

कागज का वह टुकड़ा दीपक की स्मृतियों की धज्जियां उड़ा गया है। साथ ही मुझे भी अपनी नजर मे कितना छोटा कर गया है। जब मैं नारी-सुलभ लज्जा और जन्मगत संस्कारों को तिलांजलि देकर अपने देवता को समर्पित हो रही थी—वह इसे मात्र कामकौतुक समझ रहे थे। इस शर्म को लेकर कहा जाऊं मैं ! इस दंश को कैसे झेल पाऊंगी मैं !

मैं उन अमूल्य क्षणों की धरोहर उदर में समेटे बड़े गर्व से जी रही थी। पल-भर में सब कुछ समाप्त हो गया। अब इस अनचाहे बोझ से छटपटा रही हूं। क्या इससे मुक्ति का कोई उपाय नहीं है?

केवल मेरी ही बात होती तब भी ठीक था। इस प्रसंग में एक और भी निरीह प्राणी शहीद हो रहा है। उनकी हत्या का पाप किसके सिर होगा?

करवट बदलकर मैंने देखा—वह मुझे ही निहार रहे थे।

"नींद नहीं आई···" दोनों ने लगभग एक साथ पूछा और फीकी-सी हंसी हंस दिए।

"दरअसल जरा सोच में पड़ गया था," इन्होंने कहा।

"कोई खास बात?" मैंने शिष्टाचार बरता।

वह तकिये को पलग की पीठ से टिकाकर उठंगकर बैठ गए। बोले, "रमा की ससुराल से पत्र आया है। मुझे मुरादाबाद बुलाया है।"

"किसलिए?"

"वे लोग शायद दहेज की शर्तों को रिव्हाइज करना चाहते हैं।"

"लेकिन ये बातें तो सगाई के समय ही तय हो जाती हैं ना!"

"इसीलिए तो मैंने रिव्हाइज शब्द का प्रयोग किया है। सगाई जब हुई थी, तब परिस्थिति दूसरी थी। मेरी यह बैंक वाली नौकरी नहीं थी—और मेरी शादी भी नहीं हुई थी।"

"उससे क्या फर्क पड़ता है?"

"बहुत पड़ता है। उन्हें तो लग रहा है कि सौदा बहुत सस्ते में तय हो गया है।"

"तो अब क्या विचार है?"

"कल जा रहा हूं। उन्नीस-बीस का फर्क होगा तो मान लूंगा। बहुत ज्यादा मुंह फाड़ेंगे तो सारा किस्सा खत्म करके चला आऊंगा।"

"लगी-लगाई सगाई तोड़ देंगे ?" मैंने सिहरकर पूछा। मेरे अपने घाव अभी जाता ही थे।

"तो क्या करने को कहती हो ?"

मैं चुप हो रही।

"तुमने जवाब नहीं दिया ?"

"किस बात का ?"

"वहां मेरी 'लाइन आफ एक्शन' क्या होनी चाहिए ? क्या उनकी हर बात मान लूं ? अगर एकाध खेत बेचना पड़े तो तुम्हे एतराज तो न होगा !"

"यह तो अम्मा जी से पूछिए, मैं क्या कहूं !"

"अम्मा से तो खैर पूछना ही है। पर तुम भी तो पत्नी हो मेरी। तुम्हारा भी कुछ हक बनता है। रिश्ता लाख अनचाहा हो, इससे तुम्हारे अधिकारो मे कोई फर्क नहीं पड़ता !"

अधिकार ! इस घर में मेरा कोई अधिकार होगा, यह कब सोचा था। मैं तो स्वप्नाविष्ट-सी जी रही थी।

और आज वह सपना भी चूर-चूर हो गया। उसकी किरचें मेरे मन-मस्तिष्क को छलनी कर गई थी। सारी शाम, उस टीस को, उस दर्द को मन-ही-मन पिया था मैंने ! वह सारा संचित रोप अब एकाएक सतह पर आकर मुझे मथने लगा।

"पत्नी हूं यह तो सुन लिया !" मैंने कसैले स्वर में कहा, "पर पत्नी को लेकर दूसरो के दरवाजे कब तक पड़े रहेंगे, यह तो बताइए !"

वह चकित-से मुझे देखते रह गए। फिर धीरे से बोले, "कहा रहना चाहती हो ?"

"जिन लोगो के पास मामा जी की इतनी बड़ी कोठी नहीं होती, उन लोगों की बीवियां कहा रहती है ?"

"वे घर मे रहती है। दो या तीन कमरों का छोटा-सा घर होता है वह—बंगला नहीं होता।"

"यहा भी तो एक कमरे में गुजारा कर रही हूं। और वह भी मेरा कितना अपना है ?"

"निधि !" वह एकाएक गम्भीर हो उठे, "तुमसे किसी ने कुछ कहा है ?"

"क्या कहने तक इन्तजार करेंगे ?"

"नहीं, पर मैं यह जानना चाहता था कि···"

"आप तो बस इतना जान लीजिए कि इस घर में अब मेरा रहना नहीं हो सकता···बस !"

उसके बाद वह सो नहीं सके। बराबर करवटें बदलते रहे। सुबह नीचे जाने से पहले अनुनय-भरे स्वर में बोले, 'मेरे लौटने तक सब्र कर सकोगी निधि ! मैं आते ही कोई इन्तजाम कर लूंगा। पर, तब तक—न हो कुछ दिन अपनी मां के यहां हो आओ !"

मेरा रात वाला जोश समाप्त हो चुका था। मां के यहां जाने का भी कोई खास उत्साह नहीं था। मैंने बड़प्पन जताते हुए कहा, "यह सब बाद में देखा जाएगा। अभी तो आप निश्चिन्त मन मुरादाबाद हो आइए। मुझे लेकर कोई टेन्शन पालने की जरूरत नहीं है।"

मेरे आश्वासन के बावजूद वह निश्चिन्त नहीं हो पाए। सारी सुबह मेरे ही आसपास मंडराते रहे। आटो में सामान रखवाने के बाद भी वह एक बार ऊपर कमरे में आए। लगा कि वह कुछ कहना चाहते हैं। पर वह कह नहीं पाए। न ही मैंने पूछना जरूरी समझा।

मुरादाबाद से लौटे तो जैसे सब कुछ तय ही कर चुके थे। आते ही सूचना दी—"मामी जी, ५ जून तारीख तय हुई है। अब एकदम तैयारी में जुट जाना होगा।"

'इतनी गर्मी में ? क्या दीवाली तक रुक नहीं सकते थे ?"

"तारीख तय करने का अधिकार तो उन्हीं का था। मुझे तो सिर्फ मुहर-भर लगानी थी। चार महीने बाद फिर एक चार मीटर लम्बा माग-पत्र पेश कर देते तो ! जितनी जल्दी निपट जाए, अच्छा है।···मुझे तो पच्चीस मई से पहले छुट्टी मिल नहीं सकती। सोचता हूं, निधि को गांव छोड़ आऊं। अम्मा को थोड़ा सहारा हो जाएगा।"

"यह वहां जाकर क्या करेगी ?"

"ओपफो, मामी, लड़की की शादी है। सौ तरह के काम निकलते हैं। घर की बहू ऐसे में हाथ नही बंटाएगी तो कौन बटाएगा ?" यह दिलीप जी बोल रहे थे।

"गर्मी देखते हो कैसी पड़ रही है ?"

"तो कूलर लगवा देंगे। पखा लगवा देंगे। हमारे दादा को क्या ऐसा-वैसा समझ रखा है !"

यानी की दिलीप जी मुझे घर से भगाने के लिए कृतसकल्प थे। मैंने भी इस बार निर्णय ले लिया था।

चलने की तैयारी शुरू हो गई तो इनसे कह दिया, "इस बार स्कूटर से जाना नही हो सकेगा। मेरा सारा सामान साथ जाएगा।"

"टैक्सी से ले जाएंगे, भाई। पर थोड़ा सब्र से काम लो। सामान की चर्चा अभी से मत छेड़ो। मामी जी बुरा मान जाएगी।"

"पर मैं…"

"इस घर में वापस नही आना चाहती, यही न ! मुझे मालूम है। तुमने मुझे बताया है एक बार। और इत्मिनान रखो। तुम्हारी इच्छा के विपरीत कोई भी काम करने के लिए मैं तुम्हे बाध्य नही करूंगा।"

(यह क्या मैं जानती नही ! मेरी इच्छा के विरुद्ध कभी किसी बात के लिए तुमने मुझे बाध्य नही किया।)

और फिर मुझे, अपने पर ही हंसी आ गई। किसी बात की जिद कर रही हूं मैं, यह मेरा कैसा पागल हठ है ! मैं कहीं भी रहूं, उससे क्या फर्क पड़ता है ! जिस शर्मनाक झूठ को मैं अपने में समेटे जी रही हूं, वह तो हर जगह मेरे साथ ही रहेगा ! उससे मुक्ति कहा !

सच तो यह है कि पिछले दिनों जैसे मैं सपने मे जी रही थी। अपनी मानसिक उलझनों से घिरी हुई, मैं भूल ही गई थी कि मेरा शरीर भी इन दिनो संक्रमण से गुजर रहा है। इतने दिनों तक मै इस कड़ुए सच को अनदेखा करती रही। पर अब यह सम्भव नही था। यह सच कितना भयानक रूप धारण किए, मेरे सामने मुह बाए खड़ा था।

रमा की शादी में घर मेहमानों से खचाखच भर गया था। गाव-जवार

की औरतें भी अम्मा जी का हाथ बंटाने या सुबह-शाम गीत गाने के लिए जुड जाती। मैं उन सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र थी। कुतूहल का विषय थी। लाख चाहने पर भी उनकी घाघ नजरों से अपने को बचा नही पाती थी।

कोई कहती, "आजकल तो बस शादी हुए नही कि पेट निकल आता है।"

"अरे तो इसमें अचरज क्या है," दूसरी कहती, "अब कोई लड़कियां ब्याही जाती है! पूरी औरत होती हैं। आधी उमर तो मां-बाप के घर ही बिताकर आती है।"

तीसरी ताना कसती, "फिर भी, बहू-बेटियों का यू सीना तानकर चलना अच्छा लगता है भला! आजकल का तो चलन ही निराला है। हमारे तो चार-चार हो गए थे, फिर भी ऐसी दबी-ढंकी रहती कि नौ महीने तक पड़ोस मे भी पता नही लगता!"

उस खुसर-पुसर से मेरा जी घबराने लगता। अम्मा जी सामने होती तो ये ही औरतें स्नेह और ममता की मूर्ति बन जाती। इसी से अम्मा जी के सामने मेरा मुह नही खुलता था—और उनसे कहती भी तो क्या!

शादी से तीन-चार दिन पहले ही मामी जी दिनेश के साथ आ पहुंची और मुझे महिला-मण्डल से निजात मिल गई। मामी जी का दबंग-रोबीला व्यक्तित्व ऐसा था कि सभी उनसे खौफ खाते। अम्मा जी भी उनसे सहमी-सहमी रहती।

बेचारी अम्मा जी! उन्हें तो आते ही फटकार सुननी पडी थी, "कृष्णा, बहू को बड़े मजे से बुला तो लिया। पर उसका ठीक से इन्तजाम तो किया होता। एक इच-भर जगह कही ऐसी नही है, जहा वह घड़ी-भर को कमर सीधी कर सके। घर भट्ठी-सा तप रहा है—सो अलग!"

कहकर ही वह चुप नही हुईं। उन्होने खडे-खडे छत वाले कमरे में सीलिंग फैन लगवाया। खिडकियो मे खस के परदे टांगे गए। पूरे घर में यही एक कमरा ढंग का था। उस पर अब मामी जी का दखल हो गया। मेरे लिए भी जैसे नजरकैद हो गई थी। उनकी इजाजत के बिना नीचे पाव देना मुहाल था।

मामी जी की उस साधिकार चौकसी ने रमा-उमा को फिर से मुझसे दूर छिटका दिया। बड़ी मुश्किल से मैंने एक स्नेह का ताना-बाना बुना था। वह तार-तार हो गया।

रमा तो खैर अपने सपनों में खोई हुई थी। फालतू बातों के लिए उसके पास समय नही था। पर उमा स्वयं को बहुत अपमानित उपेक्षित-सा अनुभव कर रही थी। उसका गुस्सा बात-बात पर झलकता था। कल ही अपनी सखी से कह रही थी, "शादी-ब्याह तो बराबरी वालों मे ही अच्छे लगते है। ये बड़े घर की बेटियां आकर अपन को और छोटा बना जाती हैं!"

रमा की शादी धूमधाम से सम्पन्न हो गई।

अपनी ओर से हम लोगों ने अच्छा प्रबन्ध किया ही था, पर यह मानना होगा कि बाराती भी सज्जन थे। एक बार जो मागना था, सो उन्होंने माग लिया। पर फिर बाद मे कोई टंटा-बखेड़ा नही किया। हम लोग जितना डर रहे थे, उसकी तुलना मे विवाह अत्यन्त शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गया।

दूसरे दिन जब सब लोग अपनी थकान मिटा रहे थे, मामा जी अम्मा जी के पास आकर बोले, "कृष्णा, बहुत-बहुत बधाई! सब काम बड़ी शान्ति से निपट गया। अब हमें भी इजाजत दो।"

"तुम्हें तो रुकने के लिए नही कह सकती मैं। यहां दिलीप भी नही है। तुम्हारे सोने-बैठने के ढग का इन्तजाम भी नही हो पाता। पर भौजी तो अभी रहेंगी न?"

"नही, मैं भी अब चलूंगी। घर को और तुम्हारे भैया को ज्यादा दिन तक नौकरो के भरोसे नही छोड़ा जा सकता। दिलीप का कोई ठिकाना है! दिन-भर बाहर रहता है।"

अम्मा जी ने मुझे डलिया मे पूड़ी-मिठाई सजाने की आज्ञा दी और खुद जाकर बेटे को जगा लाईं। इन्हें देखते ही मामी जी ने कहा, "दौल, मैं निधि को अपने साथ लिए जा रही हूं। तुम तो अभी कुछ दिन रहोगे

न ।''

अपना नाम सुनते ही मैंने चौंककर सिर उठाया। सभी की आंखें मेरी ओर लगी हुई थीं। अम्मा जी की आंखों में एक विवशता का भाव था। पर उमा की आंखें तो जैसे जल रही थीं। इनकी ओर फिर देखने का साहस ही नहीं हुआ।

तभी इनकी आवाज सुनाई पड़ी, "मामी जी ! अभी तो यहां बहुत समेटने को पड़ा है। निधि आपके साथ चली गई तो फिर अम्मा बिलकुल अकेली पड़ जाएगी।"

"तो यह कहो न कि तुम लोगों ने उसे मार डालने का ही इरादा कर रखा है !"

"इटस् आलराइट मम्मी !" दिनेश ने उन्हें शान्त करना चाहा।

"क्या खाक आलराइट है ! डा० मिश्रा ने कितनी हिदायतें देकर भेजा था। मैं जानती थी उनमें से एक पर भी यहां अमल नहीं होगा। अपनी जिम्मेदारी पर ब्याह कर लाई हूं। तभी न इतना सर खपा रही हूं। नहीं तो मुझे क्या पड़ी थी !"

और वह भुनभुनाते हुए सबसे पहले गाड़ी में जा बैठीं। अच्छा-खासा तमाशा हो गया। लडकी तो शान्ति से विदा हो गई। पर मेहमानों की विदाई में यह नाटक हो रहा था। और इस नाटक के मूल में मैं हूं यह सोचकर मैं शर्म से गडी जा रही थी।

ये जतन से मामा जी को गाड़ी तक पहुंचा आए। उनके बैठते ही दिनेश ने गाड़ी स्टार्ट कर दी। शायद वह भी इस तमाशे के कारण लज्जित हो रहा था।

उनके जाते ही घर में जैसे भूचाल आ गया।

अम्मा जी ने करुण स्वर में और उमा ने कठोर शब्दों में कैफियत तलब की कि जब वे लोग ले जा रहे थे तो निधि को जाने क्यों नहीं दिया। गरीबों की कुटिया में उसकी सार-सम्हाल कैसे होगी !

इन्हें भी फिर ताव आ गया। बोले—"तुम्हारे घर में जगह हो तो रखो। नहीं तो मैं दूसरा इन्तजाम कर लूंगा। जिन्दगी-भर मैं अपनी बीवी को दूसरों के घर में नहीं रख सकता !"

तूफान तब अपने-आप थम गया।

शादी वाला घर था, फिर भी कुछ लोगो ने मिलो भगते करके ह लोगो के लिए कमरे का एकान्त जुटा दिया था। उसका शुभारम्भ इस वाक्य से हुआ, "अम्मा को इस तरह जलील करने की क्या जरूरत थी?"

उनके तेवर देखकर मैं सहम-सी गई। उनका इस तरह का स्वर पहली बार सुना था। दबी जबान से मैंने पूछा, "मैंने अम्मा जी को जलील किया है?"

"हां! अम्मा को, मुझे, हम सबको!"

"कैसे?"

"डाक्टर की हिदायतें हमें क्यो नही बताई गईं?"

"क्योंकि उनमे मुझे कोई दिलचस्पी नही थी।"

"सवाल तुम्हारी दिलचस्पी का नही, तुम्हारी सेहत का है!" वह चीखे।

"मुझे अब अपनी सेहत में, अपने-आप मे कोई दिलचस्पी नही रही।"

"सवाल अब सिर्फ तुम्हारे अकेले का भी नही रहा। एक और…"

"मुझे अब उस किसी और मे भी दिलचस्पी नही रही, बस!"

उनका तमतमाया हुआ चेहरा कुछ सामान्य हो चला था। फिर भी जब बोले तब स्वर उतना ही उग्र था, "क्या बात है, निधि! इसी अजन्मे जीव के लिए कभी तुम विद्रोह का झण्डा लेकर खड़ी हो गई थी। परिवार की, समाज की, सारी मान्यताएं तुमने ठुकरा दी थीं। और आज कहती हो तुम्हें उसमें कोई दिलचस्पी नही रही। क्यों?"

"क्योंकि तब वह मेरे प्रेम का प्रतीक था, अब वह सिर्फ बेवकूफी की निशानी है। तब मैं उसकी मां थी, अब मामी जी के पोते की धाय-भर हू। एण्ड आय हेट इट…"

पल-भर को वह सकते में आकर मुझे घूरते रह गए। मैंने दोनो हथेलियों मे अपना मुह छिपा लिया। वह धीरे से मेरे पास आकर बैठ गए और अपने हमेशा वाले मृदु अन्दाज मे बोले, "निधि! मैंने तुम्हे तुम्हारे

सम्पूर्ण इतिहास के साथ स्वीकार किया है। अब ऐसी कोई बात नहीं है, जिसके लिए तुम्हें मुझसे मुंह चुराना पड़े!"

"ओह, आप नही जानते!"

"मैं क्या नही जानता?"

उस स्वर मे पता नही कैसी ममता थी कि अपने पर मेरा वश ही न रहा। उनसे सब कुछ कह डाला। और कहने के बाद लगा, मन एकदम हलका हो आया है। इतने दिनों मन में जैसे ज्वालामुखी धधक रहा था। वह भी जैसे अब शान्त हो गया।

वह गौर से मेरी बात सुनते रहे। फिर धीरे से बोले, "अगर मैं कहूं कि मैं यह भी जानता था तो क्या विश्वास कर लोगी?"

"जानते थे! तो फिर बताया क्यों नही?"

"बता देता तो क्या विश्वास कर लेती!"

"क्यों! क्यो नही करती?"

"उस समय तुम किसी के प्रेम मे आकण्ठ डूबी हुई थी। मेरी बात से तुम्हे ईर्ष्या की ही गन्ध आती। और फिर···मरने वाले की निन्दा करने मे पाप जो लगता!"

अब मैं बेवकूफों की तरह उन्हें तक रही थी।

वह उठकर कमरे में चहलकदमी करने लगे। कुछ देर बाद मेरी ओर देखे बिना उन्होंने सारी बात कहना शुरू किया।

"दीपक जिस दिन जाने की तैयारी कर रहा था, मामी जी ने मिठाई की एक बडी-सी डलिया लाकर उसके सामने रख दी कि वह मद्रास जा कर दोस्तो को सगाई की खुशी में बाट दे। पहले तो वह मना करता रहा, पर जब मामी जी नही मानी तब उसने ठोकर मारकर डलिया दूर छिटका दी और चीख पडा, 'ममा! यह शादी नही होगी। आई डिक्लेअर द एंगेजमेंट कैन्सल्ड···'

"'क्या बक रहा है?'

"'ठीक बक रहा हूं। मैं वहां जाकर चिट्ठी लिखना चाहता था। अच्छा हुआ तुमने यही मौका दे दिया।'

"इसके बाद मामी सिर पटककर रह गईं, पर उसने मुंह नही खोला।

उसके जाने के बाद भी वह बड़ी बेचैन रही। मुश्किल तो यह थी कि अपनी परेशानी किसी से कह भी नहीं सकती थी। मामा जी का गुस्सा बहुत तेज है। पता नहीं क्या कर बैठते ! दिलीप छोटा तो है ही, सहन-शक्ति भी उसमे नहीं है। मुझमे सदा से ही उनका अटूट विश्वास और ममता रही है। मुझे अकेले मे बुलाकर बोली, 'शैल, जरा मद्रास जाकर देख तो आ। उसका कही कोई चक्कर तो नहीं है ? इस लड़के ने तो मुझे अच्छी मुसीबत मे डाल दिया है। लड़की वालो को मैं क्या मुंह दिखाऊंगी ! कितने विश्वास से उन लोगों ने लड़की हमे सौंपी थी ! इतने दिनों तक उसे लिए-लिए घूमता रहा और अब ...'

"फिर किसी इण्टरव्यू का बहाना बनाकर मुझे मद्रास जाना पड़ा। दीपक से कुछ बात हो पाती, इससे पहले ही सारा खेल खत्म हो गया। पर इससे पहले मुझे कुछ आभास हो गया था। उसने एक-दो संकेत तुम्हारे लिए ऐसे किए कि मैं सन्न रह गया। कोई भी शरीफ आदमी अपनी वाग्दत्ता वधू के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करता, भले ही वह अमेरिका से लौटा हो।

"मामी जी लेकिन आज तक नहीं जानती कि उसका मन एकाएक बदल क्यों गया था।"

वह अब मेरे सामने आकर खड़े हो गए थे, "निधि ! तुम सोचती हो, मामी जी तुम्हे दीपक के बच्चे के कारण प्यार करती है—यह गलत है। दीपक अगर जीवित होता, यह बच्चा भी अगर बीच में न होता तब भी वह तुम्हारे लिए कुछ करती। इसे उन्होंने अपना नैतिक कर्तव्य मान लिया था।"

"और तब भी शायद बलि का बकरा वह आपको ही बनाती !" मैंने सूखी हसी हंसकर कहा।

वह कुछ नहीं बोले। चुपचाप खिड़की से बाहर देखते रहे।

"जानते हैं, जिस दिन यह पत्र हाथ में आया था, छत से छलांग लगाने का मन हो आया था। पर आपका ख्याल करके रह गई। पहले ही आपने बहुत अन्याय सहा है। अपनी मृत्यु से आपकी परेशानियों में इजाफा करने की इच्छा नहीं हुई।"

एकाएक उन्होंने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए, "थैंक्यू निधि ! आई एम सो ग्रेटफुल। वचन दो, भविष्य में भी ऐसा पागलपन नहीं करोगी !"

उनका स्वर कांप रहा था। पर हाथों की पकड़ इतनी सख्त थी कि उनके भीतर छिपा फौलादी पुरुष पल-भर को मुझे सहमा गया।

"शैल, यह बंटी आया है।"

अम्मा जी को देखकर हम दोनों चौंक पड़े। इस तरह धड़धड़ाती हुई वह कभी कमरे में नहीं आई थी। अक्सर नीचे से ही आवाज दे लेती। जरूर कोई खास काम याद आ गया होगा। आज शाम की गाड़ी से ये मुरादाबाद जा रहे थे, रमा को विदा करानी थी। जब से मुहूर्त निकला है, दस बार सामान की लिस्ट बन चुकी है। कहीं फिर कुछ शहर से मंगाना होगा। तभी तो बंटी—मेरे चचेरे देवर को साथ लेकर आई हैं।

"कहो बंटी उस्ताद ?" इन्होंने आफ्टर शेव लोशन की सुगन्ध बिखेरते हुए पूछा।

"इसे जरा मुरादाबाद का पता-ठिकाना समझा दे। गाड़ियों का टेम-टेबल भी बतला दे। पहली बार जा रहा है न !"

"यह कहां जा रहा है ?"

"मुरादाबाद, लड़की को लाना नहीं है ?"

"मैं जा तो रहा हूं !"

"नहीं, तुम्हारा, जाना नहीं हो सकेगा।"

"क्यों ?"

पता नहीं किस संकोच से अम्मा जी कुछ देर चुप रहीं। फिर धीरे से बोलीं, "बहू की तबियत कुछ ढीली-सी लग रही है। तुम्हारा यहां रहना बहुत जरूरी है।"

मैं इनका सूटकेस जमा रही थी। मैंने चौंककर सिर उठाया। ये मुझे ही घूर रहे थे। उनकी आंखों में अभियोग था, रोष था। अब मैं इन्हें कैसे समझाती कि मैंने अम्मा जी से कुछ भी नहीं कहा है। उनकी अनुभवी नजरों ने अपने-आप ही सब भांप लिया है।

अच्छा ही हुआ जो अम्मा जी ने इन्हे रोक लिया। शाम होते-न-होते ही मेरी हालत बिगडने लगी। गांव में किसी के यहां बरात में दो जीपें आई थी। मान-मनौवल करके ये जीप ले आए। भगवान को दस-दस बार मत्था टेककर हम लोग रवाना हुए।

मैं तो जानती थी कि समय पूरा हो चला है। पर अम्मा जी सतमासे की आशका से बहुत घबरा रही थी। बार-बार कह रही थी, "कुछ ऐसा-वैसा हो गया तो भौजी को क्या मुह दिखाऊगी!"

एक तो मैं दर्द से बेहाल हो रही थी। उधर अम्मा जी का यू बिसूरना सुन-सुनकर कोफ्त हो आई। मैंने खीभकर कहा, "अम्मा जी, बहू आपकी है, मरे या जिए। किसी दूसरे को उससे क्या मतलब!"

तब कही जाकर उनका यह रिरियाना बन्द हुआ।

शहर की बत्तिया जब दिखाई दी, तब लग रहा था जैसे जीप में बैठे बरसो बीत गए हों। इन्होने मामा जी के बगले के पास पल-भर को गाड़ी रुकवाई और कहा, "अम्मा, तुम और उमा यहा उतर जाओ और दिलीप को लेकर नर्सिंग होम पहुंचो। मैं चलता हूं।"

उन लोगों के उतरते ही ये पीछे मेरे पास आकर बैठ गए।

"निधि," गाड़ी स्टार्ट होते ही इन्होने भीगे कठ से पुकारा।

"जी!" कहते ही दर्द की एक लहर उठी और मेरी सम्पूर्ण चेतना को चीरती चली गई। पल-भर को जैसे सारी दुनिया ही अधेरे मे डूब गई। होश मे आने पर देखा, मेरा पसीने से भीगा सिर इनकी गोद में है और वह उसे सहला रहे हैं।

"अस्पताल कब आएगा?" मैंने क्षीण स्वर में पूछा।

"बस, आ ही गया समझो!"

और थोडी ही देर मे हम नर्सिंग होम मे थे। वह परिचित इमारत मुझे धुधली-सी लग रही थी। सारा संसार ही अधर मे तैरता-सा लग रहा था।

इन्होने सहारा देकर मुझे धीरे से उतारा और बहुत आहिस्ता-आहिस्ता लाउंज में ले आए। खबर लगते ही दो सिस्टर्स दौड़ी चली आईं

और उन्होंने मुझे अपने संरक्षण में ले लिया। वह मेरे पीछे-पीछे सारा कारीडोर पार करके आ पहुंचे। फिर एक कमरे के सामने रुककर सिस्टर ने जब शहदघुली आवाज में कहा, "बस, अब इसके आगे नहीं!" तो सहमकर वह पीछे हट गए। दरवाजा बन्द होने से पहले मैंने उन्हें देखा, उनका चेहरा भीड़ में खोए बच्चे की तरह सहमा-सहमा-सा था।

एक बार कुशल हाथों मे पहुंच जाने के बाद मुझे निश्चिन्त हो जाना चाहिए था। पर वहां का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि घबराहट कम होने के बजाय बढती ही गई।

पिछले दो बार के चेक-अप में डाक्टर ने हलका-सा संकेत दिया था कि बच्चे की पोजीशन थोडी गड़बड है। घबराने की कोई बात नही थी। पर उन्होंने उठने-बैठने और लेटने के तरीकों के सम्बन्ध मे कई निर्देश दिए थे। सीढिया चढ़ने-उतरने के लिए, भारी चीज उठाने के लिए, कुछ खास चीजें खाने के लिए मना किया था। खास कर घी से परहेज बताया था।

पर आने वाले के प्रति मैं ऐसे विद्वेष से भर उठी थी कि मैंने हर काम वही किया, जिसके लिए मुझे मना कर दिया गया था। एक अजीब-सी जिद मुझ पर सवार थी और मैं निरन्तर उस अजन्मे शिशु की मृत्यु की कामना कर रहा थी। क्योंकि मुझे मालूम था कि एक बार वह मेरी गोद मे आ गया तो जबरदस्ती मेरी ममता छीन लेगा।

यहां आने के बाद अपना वह जनून सौ गुना होकर मुझे डराने लगा था। क्योंकि मेरा हसकर स्वागत करने वाली सिस्टर अब गम्भीर लग रही थी। हमेशा चहकने वाली डा० मित्रा भी बदहवास-सी थी। वह दो-चार बार बाहर जाकर किसी को फोन भी कर चुकी थीं।

फिर धीरे-धीरे मेरी टेबल के पास अजीब-से मानवी आकार इकट्ठा होने लगे। सिर पर चपटी टोपियां और चेहरे ढके हुए। लगा, जैसे यम-दूत हैं ये। वह तेज रोशनी, वे चमकते औजार, वे अजनबी चेहरे—मुझे लगा जैसे डर से ही मेरा दम निकल जाएगा।

"भाभी, डरना नही, मैं हूं यहां!"

मैंने चौककर देखा, हा, यह दिलीप थे। उन आखों में आज प्रतिहिंसा का भाव नही था। फिर भी मैं पहचान गई कि वह दिलीप थे। भाभी! उन्होने मुझे भाभी कहा था। पहली बार इस नाम से पुकारा था। इस बात की खुशी इतनी अधिक थी कि उसमें मेरी सारी लाज-शरम डूब गई।

"भैया जी, मेरा आपरेशन होगा ?"

"हा, बस छोटा-सा। आपको पता नही चलेगा!"

"मुझे वेहोश करेंगे ?"

"हा, बस थोडी-सी देर को। आप घबराना नही।"

"अरे वह नही घबराती। शी इज ए ब्रेव लेडी!" यह आवाज डाक्टर मित्रा की थी, "आप उनके मिया को देखते! डिक्लेरेशन लिखते हुए क्या बुरी तरह काप रहे थे!"

"भैया जी!"

"हां भाभी!"

"क्या ये बहुत नर्व्हस हो रहे हैं!"

"अरे बस कुछ न पूछिए। उन्हें समझाने मे तो इतनी देर लग गई··· भाभी, नाउवी ब्रेव!" और वह मेरे कानो के पास झुक आए, "याद रखिए आपको वापस आना है। दादा आपकी राह देखेंगे। ही विल बी वेटिंग फार यू। यू विल हैव टू कम वैक···"

"नाउ, प्लीज डाक्टर!" किसी ने गम्भीर स्वर मे चेतावनी दी।

"सारी···" दिलीप ने कहा और पीछे हट गए।

कमरे मे पल-भर को नीरवता छा गई। लगा जैसे सब लोग सांस रोककर मेरी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। लेकिन वह नही जानते—बाहर कोई मेरी प्रतीक्षा कर रहा है! मुझे वापस आना ही होगा। आई शैल कम वैक—आई शैल हैव टू कम वैक···

□□

मुद्रक : सोहन प्रिटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

एक कदम आगे : दो कदम पीछे	दत्त भारती	15.00
मन परदेसी	कर्तारसिंह दुग्गल	25.00
इसी का नाम दुनिया	विमल मित्र	30.00
चौखट	द्रोणवीर कोहली	30.00
पालेखां	गुलशन नन्दा	15.00
लक्ष्मण रेखा	"	20.00
लरजते आँसू	"	25.00
पंछी उड़ा आकाश	आशापूर्णा देवी	30.00
अकारण	योगेश गुप्त	18.00
अनायास	"	22.00
मुहब्बतनामा	अमृता प्रीतम	22.00
गलियारी	शैलेश मटियानी	15.00
गोपुली गफूरन	"	25.00
कब्रिस्तान में सावधान	सत्यजित राय	30.00

सशक्त कहानी संग्रह

हे मानसी	मणि मधुकर	20.00
तिरिया जनम	मिथिलेश्वर	20.00
मरहम नहीं निराशा	नरेन्द्र शर्मा	25.00

महाभारत पर आधारित

उपन्यास माला

राजकुमार भ्रमर

आरभ	(पहला खण्ड)	35.00
अंकुर	(दूसरा खण्ड)	35.00
आवाहन	(तीसरा खण्ड)	35.00
अधिकार	(चौथा खण्ड)	35.00
अग्रज	(पांचवां खण्ड)	35 00
आहुति	(छठा खण्ड)	35.00
असाध्य	(सातवा खण्ड)	35.00
असीम	(आठवां खण्ड)	35.00
अनुगत	(नवां खण्ड)	35.00
18 दिन	(दसवां खण्ड)	35.00
अंत	(ग्यारहवा खण्ड)	35 00
अनन्त	(बारहवां खण्ड)	35.00